जैन रामायण की कथाएं

मुनि शुभकरण

H
294.88
Sh91J

जैन रामायण की कथाएं

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

जैन रामायण की कथाएं

मुनि शुभकरण

सम्पादक
मुनि विनोदकुमार

© आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

स्वर्गीया मातुश्री श्रीमती मोहिनी देवी गेलड़ा (धर्मपत्नी श्री अमरचन्द जी गेलड़ा) की नवमी पुण्यतिथि के अवसर पर उनके
सुपुत्र श्री पुखराज चैनराज विजयराज महेन्द्रकुमार गेलड़ा,
बोरावड़ (राजस्थान) के सौजन्य से ।

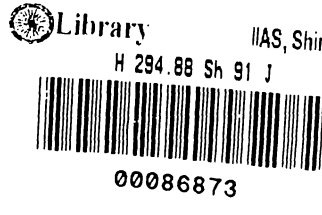

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राज०) /
मूल्य : पन्द्रह रुपये / द्वितीय संस्करण, १९९४ / मुद्रक : पङ्कज प्रिंटर्स,
दिल्ली-११००५३

JAIN RAMAYANA KI KATHAN *by* Muni Shubhakarana
Rs. 15.00

प्रस्तावना

राम भारतीय संस्कृति में एक आदर्श, लोकप्रिय एवं अनुकरणीय व्यक्ति रहे हैं। उनका व्यक्तित्व असीम है। श्रमण और ब्राह्मण दोनों परम्पराओं का साहित्य इसका प्रमाण है। बाह्य व्यक्तित्व की रेखाओं में कुछ विविधता का दर्शन हो सकता है, किन्तु आन्तरिक व्यक्तित्व में नहीं। वह सबमें सदृश है। उनका संबंध किस परम्परा से था, इसे प्रमाणित करने के लिए हमारे समक्ष कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। वे प्रागैतिहासिक पुरुष हैं। उनके संबंध में हमारी जो भी कोई धारणा है वह तत्संबंधी साहित्य पर आधारित है।

श्रमण-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा दोनों का अपना स्वतन्त्र साहित्य है। दोनों में अनेक विषयों पर विभिन्नता है। साहित्य में उसका स्पष्ट दर्शन होता है। दोनों ने अपनी-अपनी संस्कृति के रंग में उन्हें रंगा है। किन्तु समानता यह है कि उनका मर्यादा-पुरुष और भगवद्-रूप असमान नहीं है।

राम-कथा संबंधी श्रमण-परम्परा का साहित्य भी कम नहीं है। किन्तु वह वैदिक साहित्य की तरह सुलभ, जन-भोग्य और विद्वत्सेव्य नहीं बना। उसका प्रचार-प्रसार सीमित रहा। इसलिए उसका यथार्थ अंकन नहीं हो सका।

अपभ्रंश, संस्कृत और प्रान्तीय भाषाओं में जैन विद्वानों ने सरस, सुखद और काव्यात्मक गुणों से संपन्न रामायणों की विविध समयों में

रचनाएं की हैं। राम-कथा ने अव्यक्त प्रतिभा को व्यक्त किया है। प्रतिभा-पाटव के लिए ही राम-कथा की रचना का ध्येय उनका नहीं है। वह ध्येय का परिणाम था। लक्ष्य था—एकमात्र जन-जीवन में आध्यात्मिक, राजनैतिक, मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा करने का। वे उसमें सिद्धहस्त हुए। भारतीय संस्कृति को जीवित रखने के लिए ही जैन और ब्राह्मण परम्परा के मनीषियों ने उन्हें अपना पात्र बनाया था। उनके माध्यम से वे और राम दोनों अमर बन गये। इसके साथ-साथ कोटि-कोटि लोग भी इससे अनुप्राणित होते रहे हैं और हो रहे हैं।

जैन राम-कथा का रचना-काल संभवतः अन्य रामायणों की अपेक्षा प्राचीनतर न हो, किन्तु उनमें जो वर्णित विषय हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से कितने प्राचीन हैं यह अवश्य चिन्तनीय है। वे हमें नव-युग की प्रतिष्ठापना के निकट ले जाकर अवश्य प्रतिष्ठित करते हैं। उन पर भी अपनी-अपनी परम्पराओं की छाया दृष्टिगत होती है, किन्तु स्थान-स्थान पर तर्क-संगतता का जो दर्शन होता है, वह वस्तुतः स्पृहणीय है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर अनेक व्यक्तियों की पुनर्जन्म संबंधी प्रलम्बतम घटनाएँ भी लिपिबद्ध हुई हैं। वे जहां वैराग्य-संवर्धक, हृदय-वेदक और उद्बोधक हैं, वहां पुनर्जन्म के ध्रुव-सिद्धान्त की सूचक भी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में रामायण का आद्यंत इतिहास नहीं है। इसमें केवल जैन-रामायण के अन्तर्गत वर्णित तत्सम्बन्धी कहानियों का संग्रह है। इनमें से कुछ प्रत्यक्ष स्वयं राम से सम्बन्धित हैं और कुछ उनके पूर्वजों से। राम-कथा जिस प्रकार प्रेरणोत्पादक और कर्णप्रिय है वैसे ही ये कथाएं भी कम नहीं हैं। मानवता और आध्यात्मिकता के संप्रसारण में इनका बहुत बड़ा हाथ है। 'कथाच्छलेन बालानां'—बाल-साधारण-जनों को उद्बोधित करने के लिए कथाओं की आविष्कृति हुई थी। तत्त्वों की गंभीरता भी इनसे सहज सुबोध-गम्य बन जाती है। यह पद्धति अर्वाचीन नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि मनीषीगण भी बहुत बड़े मनोविज्ञानवेत्ता थे।

आज भी वे कहानियां मनोविनोद और भावना-प्रबोध की प्रहरी बनकर खड़ी हैं, जो प्रौढ़ों में नव स्फूर्ति, शक्ति और सरसता को उज्जीवित

करती हैं। श्रीकृष्ण की प्रिय बांसुरी की मधुर ध्वनि से जैसे शुष्क उद्यान सर-सब्ज हो जाते थे वैसे ही ये कथाएं भी उदास और नीरस हृदय को प्रफुल्ल और सरस बना देती हैं। वैराग्यांकुर को पुष्पित, फलित और पल्लवित करने में इनका कार्य पवन, जल और मिट्टी जैसा है। इनके संकलन के पीछे वही हेतु है। आज के जीवन में अध्यात्म की रिक्तता पनप रही है या है, जिसकी पूर्ति में निःसन्देह इनका योगदान हो सकता है।

इस शब्द-संयोजना के पीछ प्रत्यक्षतः और परोक्षतः जिनका आशीर्वाद, विशद-अनुराग और समुन्नत प्रेरणा छाया की तरह सतत संलग्न है, वे महामनीषी आचार्यश्री तुलसी और सहज साधक युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ अनवरत अविस्मरणीय हैं।

—मुनि शुभकरण

क्रम

वज्रबाहु	१
कीर्तिधर	५
सुकोशल का बलिदान	८
सिंहनी का स्वर्ग गमन	१०
हिरण्यगर्भ	१४
शील-शौर्य की मूर्तिमती	१७
मांस-लोलुप राजा सोदास	२१
कैकेयी का पाणिग्रहण	२८
राम-लक्ष्मण का जन्म	३५
भामण्डल का अपहरण	३७
विवाह का प्रस्ताव	४३
सीता का स्वयंवर	४७
राम का राज्याभिषेक	५४
वनवास	५७
दृढ़प्रतिज्ञ वज्रकर्ण	६५
संकट-मोचन	७३
अग्निहोत्री ब्राह्मण	७७
जहां राम, वहां अयोध्या	८०
वनमाला	८३
पांच बाण	८७
देशभूषण और कुलभूषण	८९
राजा दण्डक और दण्डकारण्य	९७

वज्रबाहु

अयोध्या के राजकुमार वज्रबाहु की बारात बड़े ठाट-बाट के साथ हस्तिनापुर नगर पहुंची। सर्वत्र उल्लासपूर्ण वातावरण था। वज्रबाहु भी नये भविष्य की सुखद कल्पनाओं की उड़ान में बहा जा रहा था। संध्या का समय हुआ। विवाह की वेदी पर बैठी दो आत्माएं एक धागे में समन्वित हो गईं। विवाह सम्पन्न हो गया। नव-वधू को लेकर बारात पुनः अयोध्या की ओर चल पड़ी। पत्नी मनोरमा, वज्रबाहु और साला उदयसुन्दर—तीनों एक रथ में बैठे थे। वे वनों, पर्वतों और घाटियों का मनोरम दृश्य निहारते हुए आगे बढ़े जा रहे थे। सहसा वज्रबाहु की दृष्टि वन में ध्यानस्थित मुनि पर पड़ी। घोड़े रुक गये। वज्रबाहु मुनि को अनिमेष नयनों से निहारने लगा। वह मुनि में खो गया। उसे ऐसा अनुभव हुआ, मानो मुनि उसके अन्तःकरण में विराजमान हो गये हों।

बाहर से हटकर वह भीतर चला गया। 'मैं कौन हूं ? मैं कहां से आया हूं ? मुझे कहां जाना है ?'—प्रश्नों की इस त्रिपदी ने उसे किसी नयी दुनिया में भेज दिया। वह सोचने लगा—'अहो ! ये योगीराज किस अनिर्वचनीय आनन्द से परिप्लावित हो रहे

हैं ? यहां कोई द्वैत नहीं है। अद्वैत का यह आनन्द कैसा है ? इनके पास कुछ नहीं है, ये अकिंचन हैं, फिर भी इनमें सुख का सागर उद्वेलित हो रहा है ! इनकी वासनाएं विलीन हो गयी हैं ! ये भी शरीरधारी हैं और मैं भी शरीरधारी हूं। दोनों में कितना अन्तर है ? मैं द्वैत में आनन्द पाना चाहता हूं, ये अद्वैत में। मैं भोगासक्त हूं, ये योगासक्त हैं। मैं बन्धनों के घेरे को बढ़ा रहा हूं और ये उससे मुक्त हो रहे हैं। स्वर्ग के सुख इनके चरणों में लोट रहे हैं और मैं इन सुखों के लिए पागल होकर दौड़ रहा हूं।

जीजाजी की नीरवता को भंग करते हुए उदयसुन्दर ने व्यंग्य का तीखा बाण छोड़ते हुए कहा—'लगता है, आप मुनि को नहीं निहार रहे हैं, मुनि बनने का स्वप्न संजो रहे हैं।' वज्रबाहु का ध्यान टूटा, पीछे मुड़कर देखा और पूछा—'बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है ?' उदयसुन्दर ने विनोद की स्वर-लहरी में कह दिया, 'बन जाइये भिक्षु-श्रमण।' वज्रबाहु इस अवसर को हाथ से कैसे खोने वाले थे ? उन्होंने देखते-देखते वैवाहिक वेशभूषा को उतार-कर दूर फेंक दिया। वेश ही नहीं फेंका, उन्होंने समग्र वासना कंचुकी ही उतार दी। वे मुनि के चरणों में पहुंचकर बोले—"भगवन्। कृपा करें, इस सग्रंथ को निर्ग्रन्थ करें, अपने चरणों में लें और उस दिव्य-आनन्द से आप्लावित करें, जिसमें आप प्रति-क्षण विचरण करते हैं। यह जड़ संसार दुःख-बहुल है, विकृति का घर है और असन्तोष-अतृप्ति का विस्तार करने वाला है। मैं चेतना का परिष्कार चाहता हूं, आत्मा की स्वतन्त्रता चाहता हूं, जो आपके चरणों में अठखेलियां कर रही है। इस वैषम्य की ज्वाला से, लौकिक महावह्नि से मेरी रक्षा करें।'

उदयसुन्दर ने कहा—'यह क्या कर रहे हैं ? विनोद को

विनोद समझिए। मैं ऐसा नहीं···।' वज्रबाहु ने कहा—'क्षत्रिय जो कहते हैं, वही करते हैं। तुम्हारी हंसी मेरे लिए वरदान बन गयी। तुम मित्र हो, हितैषी हो। तुम्हारी प्रेरणा ने ही मुझे इस ओर प्रेरित किया है। तुम घबराओ मत। देह से विदेह की ओर प्रस्थान करने में तुम ही तो निमित्त बने हो। शरीर की चिन्ता में व्यस्त रहने वाले अनेक हैं, किन्तु उस शाश्वत आत्मा का स्वर सुनने वाले विरले ही होते हैं। बन्धु! तुम भी इस पथ पर आ जाओ, विलम्ब मत करो। अलौकिक क्षण जीवन में कभी-कभी आते हैं।' उदयसुन्दर ने अपनी नवोढ़ा बहन की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए कहा—'इस···।'

वज्रबाहु ने उसी क्षत्रियोचित स्वर में कहा—'क्या यह क्षत्रियाणी नहीं है? वीर-पत्नी अपने वीर पति का अनुसरण करती है। यह कैसे इस सुअवसर को खोएगी?' तीर मनोरमा के हृदय को बेध गया। उसने कहा—'योग-साधना की इस अवस्था से और कौन-सी अवस्था सर्वश्रेष्ठ हो सकती है। भोग शूल है और योग फूल। फूल को शूल और शूल को फूल मानना दृष्टि-विपर्यास है। विश्व दृष्टिमूढ़ है। पतिवर! मैं मूढ़ नहीं हूं जो कि आप फूलों की भीनी-भीनी महक की अनुभूति करें और मैं कांटों की चुभन से कराहती रहूं?'

'नवं वपुः कान्तं मुखं'—चांद को पराजित करने वाला मुंह और अप्सराओं को लज्जित करने वाला लावण्य संयम की सुषमा से सुभाषित हो उठा। राग-विराग में परिणत हो गया। त्याग के उन्मुक्त अट्टहास के सामने भोग कन्दराओं में तिरोहित हो गया। सबके समुन्नत मस्तिष्क विरक्त-आत्माओं के पद-पद्मों में अवनत होने लगे। सहस्रों-सहस्रों व्यक्तियों के कण्ठों से निःसृत जयनादों से पर्वतीय वायुमण्डल गुंजित हो उठा। काम के

आवेश से व्यक्तियों का मन आजन्म कामासक्त रहता है। यौवन में काम-मुक्त होकर, चेतना के परिष्कार के लिए आत्माभिमुख होना एक अभूतपूर्व घटना है।

'धने येन जितो गर्वो, यौवने मन्मथो जितः।
तेन मानुषसिंहेन, जितं किं न महीतले ?'

—जो धनी होकर गर्व नहीं करता, यौवन में काम-ग्रस्त नहीं होता, विश्व में ऐसा मानव-श्रेष्ठ किस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता ?' इन स्वरों का सन्धान करते हुए सब अपने-अपने घर लौट आये।

कीर्तिधर

अयोध्या के राजा कीर्तिधर युवक थे। चारों ओर विशाल वैभव बिखरा हुआ था। यौवन अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था! सर्वत्र राग, रंग और मादकता की लहरें तरंगित हो रही थीं। लेकिन उनका मन उस समस्त वातावरण से कहीं दूर विचरण कर रहा था। काजल की कोठरी में रहकर भी वे कालुष्य से दूर थे। विलासिता उन्हें बांध नहीं सकी। यौवन की चिर-निनादित उन्मादिनी सरिता उन्हें मादकता में डुबा नहीं सकी। जो सरिता सदा तटों का अतिक्रमण कर प्रलयंकारी दृश्य उपस्थित करती है, उनके सम्मुख वह शान्त, नीरव और सहज भाव से गतिमान् थी। यौवन की तृष्ण से वे व्याकुल नहीं थे, वरन् उनका यौवन नवीन चेतना-भूमियों पर विचरण करने लगा।

एक दिन राजा राज-प्रासाद के शिखर पर बैठे आकाश को निहार रहे थे। सहसा उनकी आंखों के सामने सूर्य का प्रतिबिंब आ गया। दृष्टि वहीं जम गयी। सूर्य भी नया नहीं था और नृप भी नये नहीं थे। किन्तु दोनों में एक अभिनव परिवर्तन झलक रहा था। राजा की मुख-मुद्रा ऐसी गंभीर बनी हुई थी मानो कोई दार्शनिक विश्व की पहेली को सुलझा रहा हो। गम्भीरता का

हेतु था—सूर्य का प्रतिबिम्ब। आज वह सदा की तरह तेजस्वी नहीं था। ग्रहण से ग्रसित होने के कारण उसकी तेजस्विता क्षीण हो रही। वह निस्तेज था, किन्तु राजा की तेजस्विता प्रखर हो रही थी। वे जड़ता के आल-जाल से मुक्त होकर अध्यात्म की अलौकिक ज्योति से आलोकित हो रहे थे।

राजा की अन्तश्चेतना बोल उठी—सूर्य जैसा महा तेजस्वी पिंड भी राहु से ग्रस्त हो सकता है, तब विश्व में ऐसा कौन है, जो कर्म से ग्रस्त न हो ? जीवन के पीछे चार महाशत्रु लगे हुए हैं। वे अवसर की ताक में रहते हैं। समय मिलते ही प्राणी को दबोच डालते हैं। ये शत्रु हैं—जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि। जो कर्म से मुक्त है, वही इनसे मुक्त है। मैं शासक होकर भी कर्म से शासित हूं। कर्म से आबद्ध मैं मुक्त कहां हूं ? मेरी स्वतन्त्रता इन्होंने छीन रखी है। जागने का समय यही है। जब इनके चंगुल में चला जाऊंगा, तब खड़ा भी नहीं हो सकूंगा। इससे पहले ही सचेत हो जाना चाहिए। राजा का मन जीवन-जगत् के प्रति विरक्ति से भर गया।

बड़वाग्नि की तरह राजा के वैराग्य की बात समग्र नगर में प्रसारित हो गयी। रानी सहदेवी इस समाचार से स्तम्भित हो गयी। मन्त्री-वर्ग ने भी इस संवाद को आश्चर्य से सुना। वे राजा के निकट पहुंचे और भावी व्यवस्था की ओर संकेत किया। रानी के करुण क्रंदन से वातावरण द्रवित हो गया। किन्तु राजा दृढ़-संकल्प थे। उनका निश्चय अटल था। पर अयोध्या की शासन-समस्या ने एक क्षण के लिए उनको अंध-मोह की सीमा में खड़ा कर दिया। इस राज-सिंहासन पर कौन···? रानी के अश्रुपूरित नेत्र, गद्‌गद वाणी और मन्त्री-वर्ग के मार्मिक अनुनय-विनय से नृप का मन किंचित् विचलित हो गया। उन्होंने

अपने दृढ़ निश्चय में कुछ परिवर्तन करते हुए कहा—'पुत्र-प्राप्ति के बाद ही मैं राज्य का त्याग कर दीक्षा ग्रहण करूंगा।'

दिन बीतते गये। रानी सहदेवी गर्भवती हुई। उसने पुत्र का प्रसव किया। राजा को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हो गयी, किन्तु किसी ने भी बधाई-सन्देश राजा के कानों तक नहीं पहुंचाया। न कहीं उत्सव और न कहीं आमोद-प्रमोद। सब इसी भय से आशंकित थे कि कहीं राजा अपने निश्चय के अनुसार चले न जायें। सब कुछ गुप्त रखा गया। शिशु का लालन-पालन गुप्त रीति से होने लगा। किन्तु इतना बड़ा रहस्य कब तक गुप्त रखा जा सकता था? पवन फूल की गन्ध को किसी न किसी प्रकार प्रसारित कर ही देता है। राजा सिंहासनारूढ़ थे। किसी ने पुत्र-जन्म की स्मृति की बधाई से जागृत कर दिया। पवन का सहयोग पाकर वैराग्य जलद सद्यः बरस पड़ा। 'प्राण जाय पर वचन न जाई।' जीवन के व्यापक और महत्तर सत्यों की स्वीकृति की ओर उन्मुख राजा का संकल्प सजग हो उठा।

राजा ने उसी समय समग्र परिस्थिति का अता-पता लगा लिया। कोमल-कान्त शिशु का सुकोमल करों से स्पर्श किया। आज उनकी इच्छा पूर्ण हो रही थी। पुत्र-कामना की पूर्ति का पार्थिव-सुख अनेक जन्मों में अनेक बार वे अनुभव कर चुके थे, किन्तु अध्यात्म के रहस्यात्मक आलोक का अनुभव उन्हें नहीं था। नन्हें दुधमुंहे अबोध बच्चे का राज्याभिषेक कर एवं साम्राज्य का महान् उत्तरदायित्व सौंपकर वे साधना-पथ पर अग्रसर हो गये। जनता ने एक ही साथ दो नयनाभिराम दृश्य देखे। राज्याभिषेक और अभिनिष्क्रमण-समारोह के दो भव्य आयोजन एक ही मंच पर आयोजित किए गए। प्रसन्नता और विपन्नता की अभिव्यंजना जनता के चेहरों पर स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी।

सुकोशल का बलिदान

कीर्तिधर का पुत्र सुकोशल सयाना हुआ। उसकी सर्वाङ्गीण शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हो गई। प्रजा ने शैशव से ही उसे अपना नैसर्गिक शासक स्वीकार कर लिया था, किन्तु आज वे विधिवत् सिंहासनारूढ़ हुए। जैसे मेघ-दर्शन से मयूर नाच उठते हैं, वैसे ही यौवनसम्पन्न, प्रजावत्सल, कुशल-शासक और न्याय-परायण नृप को देखकर प्रजाजनों के मन-मयूर नाच उठे। राजा का प्रत्येक कार्यक्रम जन-हित की भावना से ओत-प्रोत था। धीरे-धीरे वे अपनी दक्षता और सूझ-बूझ से प्रजा-प्रिय बन गए।

एक दिन सुकोशल अपने संसद कक्ष में बैठा था। धाय-माता के आकस्मिक करुण-रुदन ने राजा के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। आंखों से आंसुओं की अविरल धारा बह रही थी। दुःख-ज्वार फूट-फूटकर बाहर निकल आया। राजा ने पूछा—'ऐसी क्या अघटित घटना घट गई, जिससे तुम इतनी दुःखी और द्रवित हो रही हो?' आंसुओं के बांध को रोकती हुई वह बोली—देव! क्या कहूं? कुछ कहने की बात नहीं है। धरा धंस रही है, आकाश फट रहा है। मैं नहीं जानती थी कि जीवन में ऐसी घटना भी घट सकती है।' आंसुओं को पोंछती हुई ही वह

कह रही थी—'उस दृश्य को देखकर मेरा हृदय फटने लगा। कोई मेरी पुकार सुनने वाला नहीं था, इसलिए मैं यहां आयी हूं। जब बाड़ ही खेत को खाने लगे तो उसकी सुरक्षा की आशा कैसे की जा सकती है?

आपको ज्ञात है कि आपके पिताजी आपको बचपन में ही छोड़कर निर्ग्रन्थ बन गये थे। संयम और तप में उनका श्रम चल रहा था। वे उग्र तपस्वी थे। तपस्या से उनका देह दुर्बल हो गया था। आज वे चेहरे पर अध्यात्म का अनुपम तेज लिये भिक्षा के लिए शहर में आ रहे थे। महलों में बैठी राजमाता की दृष्टि दूर से ही सहसा उन पर जा टिकी। उनकी आंखों में प्रेम के बदले क्रोध उमड़ आया। श्रद्धा का स्थान स्वार्थ ने ले लिया। पूजा-अर्चना तिरस्कार (घृणा) में बदल गई। मनुष्य कितना स्वार्थी है, इससे आप अनभिज्ञ नहीं हैं। वह सब कुछ सह सकता है, किंतु स्वार्थ पर चोट लगने से शांत नहीं बैठ सकता। मुनि सहज भाव से नगर में आये थे, किन्तु महामाता भविष्य की अकल्पित आशंका में डूब गईं। उसने सोचा, जैसे वे स्वयं मुझे छोड़कर चले गये थे वैसे ही इस पुत्र को भी न ले जाएं? पानी से पहले ही पाल बांध लेनी चाहिए। उन्होंने निषेधाज्ञा जारी करा दी कि 'मुनि शहर की सीमा में प्रविष्ट न हों।' भूखे-प्यासे मुनि उन्हीं चरणों से वापस लौट गए।

इस संवाद को सुनते ही सुकोशल को ऐसा लगा मानो, धरा पैरों के नीचे से खिसक रही है। उसके कान खड़े हो गए। वह वहां बैठा नहीं रह सका। जैसा था उसी दशा में उठकर मुनि के पद-चिह्नों की ओर नंगे पैर ही चल पड़ा। अयोध्या के नागरिकों के कानों ने जैसे ही यह संवाद सुना, वे स्तब्ध हो गए। उनके मुंह से कोई आवाज नहीं निकली, मानो सब की जीभ सूख गई हो।

समूचा शहर राजा के पीछे दौड़ पड़ा। आगे-आगे सुकोशल और पीछे-पीछे अपार जन-समूह को ऊर्मियां उमड़ती चली जा रही थीं। मुनि के चरणों में पहुंचकर ही वह दौड़ शांत हुई। शहर के बाहर मुनि वृक्ष के नीचे प्रशांत बैठे थे। उनका मन योग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता, लाभ-अलाभ, निंदा-स्तुति आदि समस्त द्वन्द्वों से निर्लिप्त था। शहर के भीतर चलते हुए वे जैसे प्रसन्न थे वैसे ही बाहर निकाल दिये जाने पर भी प्रसन्न थे।

इस घटना ने सुकोशल के अन्तर्मानस को झकझोर दिया। ग्लानि से उसकी आंखें धरती में गड़ी हुई थीं। चेहरा लाल था। स्वार्थ-परायण विश्व का चित्र दिमाग में घूम रहा था। वह कर-बद्ध होकर पिता-मुनि से प्रार्थना के स्वर में बोला—प्रभो! आप धन्य हैं, द्वन्द्व-मुक्त हैं, असम्पृक्त हैं, संसार-मुक्त हैं। आपके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया जा सकता है तो क्या मैं उससे वंचित रह सकता हूं? स्वार्थ के कारण यहां सब कुछ हो सकता है। आप मुझे भी अपने चरणों में लेकर, संसार-भय से विमुक्त कीजिए। देखते-देखते वैराग्यांकुर विशाल वट-वृक्ष के रूप में परिणत हो गया। उसने समस्त वस्त्र और आभरण देह से उतार फेंके, जैसे कोई देहलग्न रजकणों को दूर करता है। केवल वेश से ही नहीं, भावनाओं से भी वह श्रमण बन गया। एक छोटी-सी घटना ने उसमें अपूर्व परिवर्तन घटित कर दिया।

सिंहनी का स्वर्ग गमन

मोहान्ध माता सहदेवी इस अकल्पित घटना को सहन नहीं कर सकी। वह निराश होकर झरोखे से कूदकर नीचे गिर पड़ी। तत्क्षण उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। वह मरी, किन्तु ऐसी नहीं मरी कि जिससे पुनर्जन्म न हो। मानवीय देह को छोड़ उसी क्षण क्रोधान्धा वह तिर्यग्योनि में सिंहनी के गर्भ से उत्पन्न हुई। गहन जंगलों में उछल-कूद करना, प्राणियों को आतंकित करना और मारना, उसके जीवन का यही क्रम बन गया।

कीर्तिधर और सुकोशल दोनों साधनारत मुनि आत्मानुभूति के अभिनव आनन्द में निमग्न थे। उनका निवास अधिकतर शहरों और गांवों से दूर वनों और जंगलों में होता था। लम्बी-लम्बी तपस्याओं से शरीर का शोषण नहीं, किन्तु वासना, इच्छा और तृष्णा-जन्य मलों को धो रहे थे। चार महीने की लम्बी तपस्या के बाद दोनों भिक्षा के लिए वन से शहर की ओर आ रहे थे। जंगल भी वही था, जहां माता सहदेवी सिंहनी के रूप में उत्पन्न हुई थी। सिंहनी की दृष्टि मुनियों पर पड़ी और मुनि-युगल ने भी सिंहनी को देखा। एक ओर दोनों शान्त थे तो दूसरी ओर वह क्रोध से उन्मत्त थी। एक ओर अभय था तो दूसरी ओर

भय का साम्राज्य। एक ओर समता थी तो दूसरी ओर विषमता। एक ओर प्रेम था तो दूसरी ओर द्वेष। अग्नि का योग पाकर ईंधन जलने लगा। उन्मत्त सिंहनी पुच्छाछोट करती हुई आगे बढ़ने लगी।

कीर्तिधर ने कहा—'पुत्र! यह संकट की घड़ी है, तुम पीछे आ जाओ, मुझे आगे···।' सुकोशल ने बीच में ही कहा—'पिताजी! आप क्या कहते हैं? मैं क्षत्रिय हूं, क्षत्रिय जैसे मारना जानता है वैसे मरना भी। मारने की अपेक्षा मरने में वीरत्व है। कमजोर व्यक्ति भय की मुद्रा में सतत मरते रहते हैं। किन्तु मैं भय की विभीषिका से मरने वाला नहीं हूं। यह हिंसा के साथ हिंसा की टक्कर नहीं है। यह युद्ध हिंसा और अहिंसा के बीच है। मेरा विश्वास है आज नहीं तो कल अहिंसा की निःसन्देह विजय होने वाली है। यह कह मुनि ध्यानस्थ पर्वत की भांति अकम्प और अभय खड़े हो गये। जीवन और मृत्यु मानों दोनों खेल रहे थे।

गर्जारव करती मदोन्मत्त सिंहनी ने मुनि की तपोजीर्ण देह पर आक्रमण कर दिया। देह धरती पर लुढ़क गया, किन्तु आत्मा नहीं। वह ऊपर उठती चली गई। वे देह से विदेह की ओर बढ़ने लगे। शरीर का भान नहीं रहा। क्षण भर में आत्मा समस्त बन्धनों से मुक्त होकर स्वयं में विलीन हो गई। आनन्द की ऊर्मिया उछलने लगीं। सिंहनी मुनि को नीचे गिराकर ही संतुष्ट नहीं हुई। उसने मुनि के हृदय को विदीर्ण किया और मांस खाया। खाते-खाते वह जबड़ों के पास पहुंची। दांतों की दूध जैसी सफेद पंक्ति को देख वह क्षणभर के लिए स्तब्ध हो गई। उसे गौर से निहारने लगी। निहारते-निहारते उसमें इतना खो गई कि उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आयी। उसने मुनि-युगल को

पहचान लिया। विचारधारा ने नया मोड़ लिया। वह स्वयं को धिक्कारने लगी, अपने कृत्यों पर आंसू बहाने लगी। उसने सोचा, यह आर्त्तध्यान और आवेग का परिणाम है। अब आंसू बहाने से क्या होगा ? जिस पुत्र को पाला, आज उसी को मैं खा रही हूं। जैसे मैं मानवयोनि से अवरोहण कर इस तिर्यंचयोनि में आयी हूं, ऊपर से नीचे आयी हूं, वैसे ही अब यहां से ऊपर भी मैं ही जा सकती हूं। यह पुरुषार्थ मुझे ही करना होगा। अच्छे और बुरे का बीज-वपन मैं ही करने वाली हूं। मैं अपना मित्र बनूं, शत्रु नहीं। अब ऐसा बीज बोऊं, जिससे फिर वैसा कटुफल न पाना पड़े।

मुनि का क्षत-विक्षत शव सामने पड़ा था। उसने आंखें बन्द कीं और संकल्प किया कि इस दुष्कृत का प्रायश्चित यही है कि आजीवन इस शरीर की मोह-तृष्णा विसर्जित कर आने वाले कष्टों को बहादुरी के साथ सहन किया जाये। जैसे दूसरों को मारने में मैं वीर थी वैसे ही अब कष्ट सहन करने में भी वीर बनूं। राजमाता के रूप में मैंने वहां आत्महत्या की, यहां मैं देह का उल्लासपूर्वक विसर्जन करती हूं। उसने शरीर का मोह छोड़ दिया। वह निराहार और निर्जल वहीं बैठ गई। दिन बीता, रात आई, रात बीती, दिन आया। क्रम चलता रहा। देह जर्जर होने लगा। भूख और प्यास से धैर्य की परीक्षा हो रही थी। मन शान्त था, वाणी शांत थी और शरीर भी शनैः-शनैः शान्त हो रहा था। उसकी दृष्टि केवल मन पर टिकी हुई थी, कहीं मन अशान्त न हो जाये। 'क्षमा, सहिष्णुता धर्म है', उसे रखना है, और जो कुछ भी जाये उसकी कोई चिंता नहीं करनी है। धर्म नहीं छूटा, देह छूट गया। आत्मा ऊपर उठी। वह पशु-योनि से स्वर्ग के द्वार पर जा खड़ी हुई। प्रवृत्तियों का यह चक्रव्यूह ही विश्व है। यह टूटता है, विश्व समाप्त हो जाता है।

हिरण्यगर्भ

अयोध्या के राजसिंहासन पर सुकोशल के पुत्र हिरण्यगर्भ अधिष्ठित हुए। अर्थ और काम का प्राचुर्य अनायास ही उनके चरणों में बिखरा पड़ा था। विलासिता का वातावरण चारों ओर अठखेलियां कर रहा था। लेकिन सम्राट् ने उन्हें जीवन के एक पक्ष के रूप में स्वीकार किया था, इसलिए वे उनमें आकण्ठ डूबे नहीं। दैनंदिन आवश्यक राजकीय कार्य भी उनकी दृष्टि से परे नहीं थे। कर्तव्य-परायणता का पंख जहां टूट जाता है, वहां जीवन स्वयं अपने और दूसरों के लिए खतरा बन जाता है। यौवन की उत्ताल तरंगों में बहते हुए यह कभी भान नहीं हुआ कि बुढ़ापा क्या होता है। हो भी कैसे ? वह तो तभी होता है, जब आदमी उसमें से गुजरता है।

एक दिन की घटना है, राजा महल में बैठा दर्पण में अपने सौन्दर्य-रस का पान कर रहा था। वह भौंरों की तरह इतना मंत्रमुग्ध था कि उसे उस समय दुनिया का कुछ पता नहीं था—क्या हो रहा है ? महलों में कौन आ-जा रहा है ? उसकी प्राण-प्रिया महारानी भी सामने आकर खड़ी हो गई, तब भी राजा का ध्यान सौन्दर्य-दर्शन से नहीं टूटा। रानी ने सोचा—यह क्या

जीवन है? मनुष्य नश्वर शरीर में अनश्वरता का परिदर्शन करने में तत्पर है। यह जीवन की विनाश-लीला सर्जन करने वाला है। सहसा रानी ने राजा के सौन्दर्य पर तुषारापात होते देखा। उसे लगा जैसे पहले था वैसा अब नहीं है और जैसा अब है आगे नहीं रहने वाला है। रानी ने एक करारा व्यंग्य करते हुए राजा के ध्यान को विचलित कर दिया। उसने कहा—'राजन्! यहां एक दूत आया है।' राजा ने सहसा आंखें ऊपर उठाकर देखा तो रानी के सिवाय कोई नहीं था। राजा ने कहा—'क्या मेरे साथ भी मजाक कर रही हो? यहां दूत कहां है? बिना आदेश यहां वह प्रवेश कैसे कर सकता है?' रानी ने कहा—'राजन्! मैं असत्य नहीं कह रही हूं। वह बिना आदेश के भी प्रविष्ट हो गया है।' राजा चारों ओर अन्यमनस्क-सा देखने लगा, किन्तु न कोई दिखाई दे रहा था और न रानी की लाक्षणिक भाषा ही समझ में आ रही थी।

रानी ने अपना हाथ राजा के सिर पर रखकर उस दूत से परिचय करा दिया, जो काले-काले काजल के समान केशों में छिपा बठा था। वह और कोई नहीं, केवल एक सफेद बाल था। राजा ने देखा और मस्तिष्क घूम गया। उसे लगा—यौवन ढल रहा है। बुढ़ापे का प्रवेश हो रहा है। एक जा रहा है और एक आ रहा है। परिवर्तन का अटल नियम है। उससे विश्व का कण भी मुक्त नहीं है। 'कालो न यातो वयमेव याताः'—काल नहीं जा रहा है, हम काल के निकट पहुंच रहे हैं। उसने सोचा—'अब शेष जीवन को नहीं खोना है। जैसे छोटी-सी आग की चिनगारी भी ईंधन के विशाल ढेर को सुलगा सकती है, वैसे ही वैराग्याग्नि का एक लघु कण भी वासना और तृष्णा की विपुल राशि का नामशेष कर सकता है।

राजा ने रानी से कहा—'रानी ! तुमने बहुत अच्छा किया जो मुझे सचेत कर दिया, अन्यथा यह जीवन अपने में कभी विराग-रंग नहीं भर सकता था। वासना के प्रेम में इसकी इतिश्री हो जाती। निर्विकार प्रेम इसे नहीं मिल सकता। विश्व प्रेम में डूबा है, किन्तु जिससे प्रेम करना चाहिए, उससे नहीं करता है। 'प्रेमगली अति सांकरी, ता में दो न समाय'। वहां सब कुछ 'तू' ही हो जाता है। यही श्रेय है। प्रेम जब दो से आबद्ध होता है तब उसमें श्रेयस् नहीं होता है। इस कारा को तोड़ देने पर वही प्रेम श्रेय में बदल जाता है। मैं प्रेम में था। प्रेम का सुख कभी तृप्त नहीं होता। आग से आग नहीं बुझती। भोग से भोग शान्त नहीं होता। मैं अब योग की ओर जाता हूं। विरक्ति से अनुरक्ति को शान्त करता हूं। आनन्द का अक्षय भण्डार भरा है, उसे अब उद्-घाटित कर रहा हूं। तुम्हारा यह सहयोग मेरे जीवन का सम्बल बन रहा है। राजा सब कुछ तृणवत् छोड़कर अकेला अपने आप में रमण करने चल पड़ा।

शील शौर्य की मूर्तिमती

हिरण्यगर्भ के पुत्र राजकुमार नहुष ने राज्य-सिंहासन को अलंकृत किया। पिता की भांति नहुष भी बड़े शूरवीर थे। राज्य-विस्तार की लिप्सा रह-रहकर उनके मस्तिष्क को आंदोलित कर रही थी। वे प्राप्य से सन्तुष्ट नहीं थे। 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टाश्च महीभुजः'—यह राजनीति का सूत्र उन्होंने आत्मसात् कर लिया था। फलस्वरूप एक दिन वे उत्तर दिशा के राज्यों को जीतने के लिए ससैन्य निकल पड़े।

दक्षिण दिशाओं के राजाओं ने इस सुअवसर का लाभ उठाना चाहा। उन्होंने शासक-विहीन अयोध्या पर आकस्मिक आक्रमण कर दिया। युद्ध की घोषणा हो गई। सेना सशक्त नहीं थी और नेतृत्व भी सशक्त नहीं था। अयोध्या की विजय संदिग्ध थी। नहुष की पत्नी रानी सिंहिका यह जान मर्दाने वेश में अन्तःपुर से बाहर निकल आयी। राष्ट्र-संकट की घड़ियों में नारियों का अदम्य साहस किसी से भी कम नहीं था। वे प्राणों की बाजी लगा चुकी थीं और लगाती रही हैं।

सेना का नेतृत्व उसने स्वयं संभाला। वह रण-कुशल वीरांगना थी। सैनिक-वेश में सेना का साहस बढ़ाती हुई, युद्ध-

भूमि में आ खड़ी हुई। दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ हो गया। रानी वीरोचित गुणों में कम नहीं थी। उसके साहस और अकल्पनीय युद्ध-कौशल को देखकर शत्रु-सेना के पैर उखड़ गये। एक-एक कर वे भाग खड़े हुए। उन्होंने पराजय का श्वेत-झंडा लहरा दिया। शस्त्र डाल दिये। सबने अयोध्या के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया। उपर्युक्त अवसर देखकर रानी, बचे-खुचे सभी राष्ट्रों को अपने अधीन कर विजय-ध्वजा फहराती हुई पुनः अयोध्या लौट आयी। घर-घर में रानी के अद्भुत शौर्य की कहानी मुखरित हो उठी।

नृप नहुष उत्तर दिशा की विजयश्री को वरण कर राजधानी में विजयोत्सव के साथ प्रविष्ट हुए। नागरिकों ने राजा का अभिनन्दन किया। राजा की दिग्विजय का स्वर भी गूंज उठा। कुछ चाटुकारों ने व्यंग्य की भाषा बोलते हुए कहा—घर में दो-दो तलवारें चलती हैं। राजा-रानी दोनों ही अपने पौरुष को रखने वाले हैं। स्त्रियां केवल घर की शोभा बढ़ाने वाली ही नहीं होतीं, वे रणभूमि का भी शृंगार हैं। राजा के सामने जब यह गुप्त-भेद खुला तो उनका सिर चकरा गया। इस पुरुषोचित व्यवहार से वह रानी के प्रति सशंक हो उठा।

रानी सिंहिका का स्वप्न-प्रासाद ढह गया। उसकी कल्पना पर तुषारापात हो गया। उसे क्या पता था कि राजा का मन विरक्त हो जायेगा। भला करते हुए भी बुरा हो जायेगा। वीरोचित सम्मान प्राप्त होना तो दूर रहा, उल्टा अपमान का प्याला पीने को मिला। वह मन मसोसकर रह गई। राजा के सामने जाना उसके लिए दूभर हो गया। राजा ने उससे न कुछ पूछा और न कुछ कहा। वह आंखों में खटकने लगी। उसका नाम कर्ण शूल बन गया।

रानी ने सोचा, 'दिनों का फेर है।' अच्छे के बाद बुरे और

बुरे के बाद अच्छे। रथ के चक्र की तरह यह ऊपर और नीचे का क्रम चलता रहता है। सत्य धूमिल नहीं होता वह उज्ज्वल होकर रहेगा। रानी समय की प्रतीक्षा करने लगी। आकस्मिक योग समझिये कि एक दिन राजा नहुष के शरीर में दाह-ज्वर का रोग उभर आया। समस्त शरीर आग के शोलों की तरह जलने लगा। एक क्षण भी चैन नहीं मिल रहा था। राजवैद्य और कुशल चिकित्सक वहां पहुंचे। उपचार पर उपचार चलने लगा किन्तु अंधेरे कुएं में पत्थर की तरह सब बेकार हो रहा था। ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही गया। राजा पड़प रहा था।

रानी सिंहिका से यह नहीं देखा गया। उसने सोचा—इससे और क्या सुन्दर अवसर आ सकता है अपने सतीत्व को प्रमाणित करने का? वह राजा की शय्या के सामने आयी। हृदय गद्‌गद् हो रहा था। कंठ अवरुद्ध था, आंखों में आंसुओं की बूंदें थीं। रुंधे कंठ से उसने कहा—'मैं अपने को सत्यापित करने आयी हूं। मैं जानती हूं इस समय आप महाव्याधि से ग्रस्त हैं। राष्ट्र शोकाकुल है। मैं भी इससे विमुक्त नहीं हूं। मैं चाहती हूं कि मैं भी शोक-मुक्त बनूं और शोकाग्नि में दग्ध समस्त राष्ट्र को भी शान्त करूं। मेरे पास कोई बहुमूल्य औषधि नहीं है। न मैं कोई रोग-विशेषज्ञ हूं। किन्तु मेरे पास अतुल आत्मबल है, धर्मबल है। मैं औषधि के रूप में केवल पानी लेकर आयी हूं। मेरा अटूट आत्मबल कह रहा है कि यह पानी नहीं, अमृत है। यह आपके शरीर को स्वस्थ करेगा और मेरे सतीत्व के प्रति आपके मन में जो संदिग्धता है, उसका भी निवारण करेगा। पानी को राजा और सभी सदस्यों के सामने रखकर कहा—'मनसा, वाचा और कर्मणा राजा के अतिरिक्त किसी भी पुरुष को मैंने नहीं चाहा हो तो पानी के छिड़कते ही राजा का दाह-ज्वर शान्त हो जाये। इस उद्‌घोषणा

के साथ ही रानी ने राजा के सम्पूर्ण शरीर पर पानी छिड़का। पानी क्या था ? राजा के लिए रामबाण दवा थी। राजा क्षणभर में आश्वस्त हो गया। वह उठ बैठा। राजा के शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ मानसिक सन्देह की व्याधि भी सदा-सदा के लिए शान्त हो गई। उसे मानो कोई दिव्य जीवन मिला हो।

राजा की आंखें जमीन में गड़ गईं। उसका अपराध बोलने लगा। 'रानी ! मैंने अकारण ही तुम्हें कष्ट दिया है। मैं हत-भाग्य हूं।' ये स्वर सहज ही मुंह से प्रस्फुटित हो गये।

रानी ने बड़े शान्त और गम्भीर स्वर में कहा—'राजन् ! चिन्ता मत कीजिए। जो होता है, वह सब अच्छे के लिए होता है, अन्यथा मेरी कसौटी कैसे होती ? अतीत को भूलिये।'

गते शोको न कर्तव्यो नागतं नैव चिन्तयेत्।
वर्तमानेन कालेन, प्रवर्तन्ते विचक्षणाः॥

विद्वान् व्यक्ति अतीत का शोक नहीं करते, और भविष्य की कल्पना में अपने को नहीं खोते। वे केवल वर्तमान पर दृष्टि रखते हैं। क्या आप इस नीति-वाक्य से अपरिचित हैं ?

राजा पुनः रानी के प्रति आकृष्ट और प्रेमालु बन गया। कल जिससे घृणा करता था, आज उसके प्रति स्नेह का समुद्र उद्वेलित हो गया। यह मन राग, द्वेष, घृणा, शोक, ईर्ष्या, प्रेम, प्रसन्नता, अनुराग आदि गुण-दोषों का क्रीड़ा-स्थल है। इसमें विविध ज्वार परिस्थिति के माध्यम से उठते रहते हैं।

मांस लोलुप राजा सौदास

राम के पूर्वजों की सूची में सौदास नरेश का नाम भी है। अयोध्या का राजसिंहासन उनसे भी सुशोभित हुआ था। सौदास अपने पूर्वजों से किसी बात में कम नहीं थे। क्षत्रिय-तेज उन्हें बपौती के रूप में मिला था। समस्त राजकोय गुणों के साथ-साथ उनमें एक दुर्गुण भी था। वह यही कि वे मांस-लोलुप थे। आसक्ति का अतिक्रमण सबको विनाश के कगार पर खड़ा कर देता है। राजा और रंक उसके सामने समान हैं। लालसा का अनियमित प्रवाह मनुष्य को कहां का कहां ले जाता है।

सौदास की जीभ पर मांस ऐसा लग गया कि वे उसके बिना एक दिन भी नहीं रह सकते थे। बिना नमक का भोजन नीरस होता है, वैसे सौदास के लिए मांस-रहित भोजन था। उसके लिए वर्ष भर में कोई पर्व-दिन नहीं था। सब दिन समान थे। अयोध्या की प्राचीन परम्परा थी कि प्रति वर्ष राज्य में एक अष्टाह्निक उत्सव मनाया जाता था, जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र में पशु-हत्या व मांस-भोजन निषिद्ध होता था। राजा के लिए भी यह नियम अनिवार्य था। जो राजा स्वयं शासित नहीं होता, उसकी प्रजा शासित हो, यह कैसे संभव है? 'राजा कालस्य

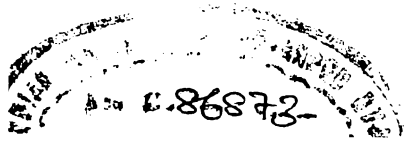

कारणम्'—समय का कारण राजा है। समय राजा का कारण नहीं बनता। 'यथा राजा तथा प्रजा'—जैसा राजा वैसी प्रजा—इस कहावत से कौन सहमत नहीं है?

अष्टाह्निक-महोत्सव का कार्यकाल सन्निकट था। राजा ने सम्पूर्ण राष्ट्र में घोषणा करा दी कि जीव-हिंसा और मांस-भोजन कल से आठ दिन के लिए सर्वथा बन्द है। 'राजाज्ञा बलीयसी—।' लोगों ने राजाज्ञा को सहर्ष स्वीकार किया। आठ दिन के लिए सभी कसाईखाने बन्द हो गये। प्रकट और अप्रकट हिंसा सर्वथा बन्द हो गयी। सौदास भी इस मर्यादा से मर्यादित था, किन्तु उसका मन मुक्त-पक्षी की तरह विहरण कर रहा था। रसोइये को एकान्त में बुलाकर सौदास ने कहा—क्या मांस कहीं से आ सकता है? रसोइये ने घोषणा की याद दिलाई। राजा ने कहा—मैं जानता हूं, किन्तु बिना उसके मैं नहीं रह सकता। कहीं से लाओ। वह बेचारा गया। गड़े हुए मृत बालक को निकालकर ले आया और उसका मांस पकाकर राजा को खिला दिया। इतने दिनों तक राजा पशु-मांस से परिचित था, आज उसे नर-मांस का स्वाद भी चखा दिया गया। राजा ने कहा—आज का मांस बड़ा स्वादिष्ट है। ऐसा पहले कभी नहीं खाया था। रसोईये ने विनम्र स्वर में कहा—राजन्! यह मृत बालक का मांस है। राजा को ग्लानि नहीं हुई बल्कि वह अधिक प्रसन्न हुआ। आसक्ति विवेक को ताक पर रख देती है। राजा ने कहा—अब प्रतिदिन ऐसा ही होना चाहिए। बेचारा रसोइया असमंजस में पड़ गया। वह कुछ नहीं बोल सका। उसे चिन्ता हो गई, ऐसा मांस प्रतिदिन कहां से आयेगा?

एक बार मृत बच्चा कोई नहीं मिला तो वह जीवित बच्चे को फुसलाकर कहीं से उठा लाया और उसे मारकर राजा की

भूख शान्त की। नर-रक्षक आज नर-भक्षक बन गए। कभी कहीं से और कभी कहीं से वह बच्चों को लाने लगा। किन्तु यह इतना बड़ा जघन्य काण्ड कैसे छिपा रह सकता था? शहर में आतंक छा गया। चारों ओर बच्चों की खोज शुरू हो गई। संपूर्ण शहर घटना के शोक-सागर में निमज्जित हो गया। मंत्रियों के कानों में यह खबर पहुंची। आपात्कालीन बैठक बुलाई गई। मंत्रिमण्डल ने इस पर विचार किया कि यह सब राजानुमोदित कार्य है। राजा की मांसेच्छा किसी प्रकार छूट नहीं सकती। राजा अनुशासन को भंग करेगा तो प्रजा से क्या आशा रखी जा सकती है? इसलिए यही सर्वोत्तम है कि राजा को एक बार सावधान कर दिया जाये, न माने तो राजा का निष्कासन करना ही सर्वोत्तम दण्ड-व्यवस्था है।

मन्त्रिमण्डल राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा का चेहरा पहले से ही बोल गया। प्रधानमन्त्री ने निवेदन किया—'नगर में आतंक फैल रहा है। लोग कह रहे हैं—राजा अपनी संतान का भक्षण करने लग गया है। लोग आपको घृणा की दृष्टि से देखने लग गये हैं। हमारा मन भी सन्दिग्ध है। ऐसा कार्य और कोई नहीं कर सकता। इसलिए आपसे विनम्र निवेदन है कि इस घटना को अब से न दुहराया जाये।' राजा क्या बोले? उसका हृदय बोल रहा था। उसने केवल यही कहा—सचिव! अब नहीं होगा। उन्हें आश्वस्त कर विदा किया।

किन्तु राजा का मन विरक्त नहीं हुआ था। उसका दिल नहीं बदला था। रसोइया बच्चे को कहीं से बहुत सावधानीपूर्वक लेकर आया कि किसी को पता न लगे पर लहसुन और प्याज अपनी गन्ध दिए बिना नहीं रहते, वैसे ही यह गुप्त मन्त्र फूट गया। मन्त्री ने सोचा, अब इसका और कोई इलाज नहीं है।

पूर्व सुनिश्चित योजना के अनुसार वे बेसुध दशा में सोये नृप को पलंग सहित उठाकर गहन जंगल में छोड़ आये। सब ने राहत की सांस ली। अनुचित कार्य का दण्ड सभी को मिलना चाहिए। इस न्याय की सब ने प्रशंसा की।

राजा का नशा उतरा। वह होश में आया। आंखें खोलीं। सब कुछ उसे अजीब-अजीब-सा लगा। राजा ने स्वयं से कहा—क्या यह सपना है ? मैं महलों में सोया था और यह जंगल ..? स्वस्थ हवा ने राजा की बुद्धि को स्वस्थ कर दिया। उसे स्थिति का आकलन करने में समय नहीं लगा। वह समझ गया। यह सब मर्यादा-हीनता का परिणाम है। समझाने पर भी मैं नहीं समझा। सत्ता का नशा कुछ ऐसा ही हुआ करता है। खैर जो हुआ वह हुआ। अब पुनः उधर नहीं जाना चाहिए।

असहाय और अशक्त राजा खिन्नमना इधर-उधर जंगल में यूथ-भ्रष्ट हरिण की तरह घूम रहा था। बादल सूर्य के प्रकाश को कुछ क्षणों के लिए आवृत कर सकते हैं किन्तु उसे पूर्णतः लीलने में सक्षम नहीं होते। मांस-लिप्सा राजा के विवेक को कुछ क्षणों के लिए निगल गयी थी, आज पुनः उसका विवेक स्वस्थ हो गया। भाग्य कुछ समय के लिए रूठा था, सदा के लिए नहीं।

राजा ने इधर-उधर घूमते-घूमते देखा कि एक श्रमण ध्यानस्थ खड़े हैं। उसे सत्संगति का माहात्म्य स्मरण हो आया—'तुलसी संगत साधु की कटे कोटि अपराध', तीर्थभूता हि साधवः', 'तीर्थः फलति कालेन, सद्यः साधु-समागमः'—'निःसन्देह मेरा भाग्य फलेगा।' इस जंगल में भी पवित्र-आत्मा का दर्शन यह सूचित करता है। वह ध्यानस्थ मुनि के चरणों में नत-मस्तक होकर बैठ गया। मुनि ने आंखें खोलीं, देखा एक भक्त बैठा है। आंखें कुछ-कुछ गीली हैं। आकार-प्रकार से संभ्रान्त

व्यक्ति लगता है। मुनि ने उद्‌बोधन किया—'देवानुप्रिय! मानव-जीवन का मूल्यांकन करो। यह वासना और विषयासक्ति में धूलिसात् करने के लिए नहीं है। इससे जीवन को ऊपर उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रमत्त कार्यों के द्वारा रसातल की ओर ले जाने का पुरुषार्थ कभी नहीं करना चाहिए। पवित्र बनो। पवित्रता ही जीवन का ध्येय है। धर्म पवित्रता का पथ है। इसकी शरण में आकर मानव मुक्त बनते हैं। इन्द्रिय-विषयों की क्षणिक-तृप्ति से इसका नाश नहीं करना चाहिए। उठो और दूसरों को उठाओ। सत्ता की प्राप्ति का यह अर्थ नहीं कि दुर्बलों की हिंसा की जाये, उन्हें त्रास दिया जाये। जो जीवन के प्रति ध्यान देता है, वह व्यसनों में इसे नहीं लुटाता। मेरा विश्वास है तुम दिव्यात्मा हो, भव्य हो। इसकी रक्षा करो।'

राजा ने कहा—'श्रवणप्रवर! मैं अयोध्या का सम्राट् सौदास हूं। मेरी रसासक्ति ने मुझे इस दयनीय स्थिति का दर्शन कराया है। मुझे दुःख नहीं, प्रसन्नता है। यह स्थिति मेरे लिए वरदान बनी, अन्यथा मैं इस जीवन में ही नहीं, जन्म-जन्म में दर-दर की ठोकरें खाता। आपके दर्शनों ने मुझे कृत-कृत्य कर दिया। मैं मनुष्यता से पशुता की ओर चला गया था। किन्तु आपका साक्षात्कार मुझे पुनः मानवता की ओर प्रस्थित करता है। मैं आपके श्रीचरणों में यह संकल्प करता हूं कि आज से मैं मांस-मदिरा आदि दुर्व्यसनों का सेवन नहीं करूंगा। गृहस्थ-धर्म के मार्ग का यथासाध्य प्रतिपालन करता रहूंगा। इस मनुष्य-जीवन का विनाश नहीं, निर्माण करूंगा। आपका परम आशीर्वाद मुझे सदा सत्पथ पर प्रेरित करता रहे। बस! भक्त की यही प्रार्थना है।

मुनि को सभक्ति शत-शत अभिनंदन और अभिवादन कर

सौदास ने वहां से महापुर नगर की ओर प्रस्थान कर दिया।

महापुर नगर आज नेतृत्व-विहीन हो गया था। राजा की मृत्यु के कारण उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं था। यह राज्यपद किसे सौंपा जाये, इसका निर्णय करने के लिए हथिनी को सजाकर उसकी सूंड में फूलों की माला देकर नगर में छोड़ा गया। 'यह हथिनी राजा का निर्णय करेगी। जिसके गले में वरमाला डाली जायेगी, वही हमारा शासक होगा'—यही बात सर्वत्र सुनाई दे रही थी।

सौदास लम्बा पथ तय करके महापुर नगर के बाहर स्थित बहुत बड़े सरोवर की पाल पर आकर लेट गया था। उसे नींद आ गयी। हथिनी वहीं आकर रुक गयी। उसने फूलों की माला सौदास के गले में डाल दी और उसे उठाकर अपनी पीठ पर बिठा लिया। जय-जय की ध्वनि के मध्य सबने सौदास को राजा के रूप में स्वीकृत कर लिया।

सौदास कुछ कल्पना नहीं कर सका। वह विस्मित था। मंत्री ने समस्त स्थिति की जानकारी दी। उसे मुनि-दर्शन की स्मृति हो गई। उसने वहीं से मनसा मुनि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की और स्मृति-नमस्कार किया। जो राजा से रंक बना, वही पुनः राजा बन गया।

राजा का राज्याभिषेक हुआ। सौदास कुशल राजनीतिज्ञ और धर्मपरायण नेता था। प्रजा की सुख-समृद्धि और राष्ट्र-उन्नति के लिए जो कुछ करना होता है, सौदास ने वही सब कुछ किया। प्रजा ने हृदय से उसे राजा स्वीकार कर लिया। सर्वत्र सौदास के नाम की चर्चा होने लगी।

अयोध्या से निष्कासित करने का अपमान आज भी सौदास

की स्मृति से विलुप्त नहीं हुआ था। प्रतिशोध का भाव रह-रहकर उनके मन को उद्वेलित कर रहा था। प्रतिशोध का सुअवसर देख सौदास ने दूत भेजा और कहलाया कि महापुर नगर के सम्राट् का आदेश है कि सेवा में उपस्थित हो। अयोध्यावासियों ने सेवा करना नहीं, कराना सीखा था। उनके लिए यह असंगत आदेश था। तिरस्कारपूर्ण शब्दों में दूत और आदेश की अवहेलना की गई। फलस्वरूप युद्ध के बादल मंडरा गये। युद्ध प्रारम्भ हो गया। अपने दल-बल ने साथ दोनों में मुठभेड़ हो गयी। सौदास के रण-कौशल के सामने अयोध्या की सेना टिक नहीं सकी। राजा ने पुत्र सहित मन्त्री को बन्दी बना लिया। राज्य-सभा में खड़ा कर उसने पूछा—'बोलो, क्या चाहते हो ? मंत्री ने कहा—कुछ नहीं। राजा ने फिर पूछा—कहो, मैं कैसा व्यवहार करूं ? मन्त्री ने कहा—जैसी आपकी इच्छा हो, किन्तु एक बात मेरी सुन लीलिए। अनुशासन सबके लिए है। न्याय की मांग है कि मर्यादाभंग के सामने किसी का मोह नहीं होना चाहिए। सबको समुचित दण्ड मिलना चाहिए। राजा मुसकराया और बोला—मन्त्री को ऐसा ही होना चाहिए। मैं प्रसन्न हूं। बन्धन खोल दिये। राजा ने सबको मुक्त कर, अपने पुत्र को दोनों राज्यों का उत्तरदायित्व सौंप आत्म-साधना के लिए श्रामण्यधर्म को स्वीकार कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

कैकेयी का पाणिग्रहण

राम के पितामह अनरण्य नरेश्वर अपने ज्येष्ठ पुत्र अनन्तरथ के साथ प्रव्रजित हो गये। अयोध्या का सारा भार दशरथ के नन्हे कन्धों पर आ गया। वे वय में छोटे थे। मन्त्र-वर्ग उनके माध्यम से शासन की देख-रेख करने लगे। दशरथ का देह-विकास के साथ-साथ बौद्धिक-विकास भी होने लगा। वे नृपोचित समस्त कलाओं में पारंगत हो गये। यौवन और बौद्धिक विकास से उनका शारीरिक सौन्दर्य और बल बहुत अधिक उद्दीप्त हो उठा। अपराजिता कौशल्या और सुमित्रा के साथ प्रणय-सूत्र में उन्हें बांध दिया गया। दशरथ जानते थे कि 'दैहिक सुख ही जीवन का एकमात्र ध्येय नहीं है', इसलिए वे उससे अलिप्त ही रहते थे।

एक दिन की बात है, वे राज-सिंहासन को अलंकृत किये हुए थे। अकस्मात् नारद ऋषि यहां पहुंच गये। उनके नथुने फूले हुए थे। सांस बड़ी तेजी से आ रही थी। ऐसा लग रहा था कि वे किसी अतर्कित अनिष्ट से सहमे हुए हैं। राजा के अभिवादन कर पूछने से पहले ही वे कहने लगे—'यहां से जल्दी चले जाओ, बहुत बड़ी विपत्ति आने वाली है।' राजा दशरथ यह सुन अवाक् रह गये। उन्होंने विनम्र शब्दों में जानना चाहा, 'ऋषिवर! ऐसी

क्या बात है ?' नारदजी ने एक ही सांस में कह दिया, 'मैं लंका से आ रहा हूं। राजा रावण ने एक बहुत बड़े भविष्यवेत्ता से अपनी मृत्यु के बारे में पूछा कि उसकी मृत्यु अपने आप होगी या किसी दूसरे के हाथों से ? नैमित्तिक ने कहा—'राजन् ! मेरा विज्ञान कह रहा है कि आपकी मृत्यु जनक की पुत्री के कारण राजा दशरथ के पुत्र के हाथों से···।' रावण यह सुन तिलमिला उठा। सभासदों ने नैमित्तिक को बाहर ढकेल दिया। विभीषण ने कहा—'मैं अभी जाता हूं, दशरथ और जनक दोनों को मार-कर ज्योतिर्विद् की भविष्यवाणी को मिथ्या साबित करता हूं।' रावण और सभी सचिवों ने इसका समर्थन किया। 'न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी' संकल्प को पूर्ण करने के लिए वह शीघ्र ही आने वाला है। मुझे यह संवाद जैसे ही मिला, मैं सूचना देने चला आया। अब जैसी तुम्हारी···' नारदजी यह कह वहां से चल पड़े।

मृत्यु का नाम बड़ा बीभत्स होता है। दशरथ को मृत्यु का भय नहीं था, किन्तु इस आकस्मिक हत्या की बात से वे भविष्य की चिंता से कुछ उद्विग्न हो गये। प्रधानमन्त्री के हाथों में राज्य सत्ता की बागडोर सौंप अज्ञात परिवेश में अज्ञात स्थान की ओर निकल पड़े। राजा जनक भी नारद-ऋषि के मुंह से यह संवाद सुनकर मिथिला और परिजनों का मोह छोड़ वहां से चल पड़े। दोनों का एक जगह साक्षात्कार हो गया। एक-दूसरे का परिचय पाकर दोनों विश्वस्त हो गये। दोनों पथिकों की तरह एक साथ रहते, चलते, बैठते और सोते हुए कौतुकमंगल नगर में आ पहुंचे।

कौतुकमंगल नगर में आज बड़ी चहल-पहल थी। दशरथ और जनक ने लोगों से इसका कारण पूछा। लोगों ने कहा—

'राजा शुभमति की एक परम सुन्दरी और विदुषी कन्या है, जिसका नाम कैकेयी है। राजा ने उसे अपना वर स्वयं चुनने का अधिकार दिया है। स्वयंवर मण्डप की रचना की गई है। वहां अनेक देशों के राजा-राजकुमार उपस्थित हुए हैं। कैकेयी स्वयंवर मंडप में अपने पति का चुनाव करेगी, यह सब हलचल इसी-लिए है।' राजा दशरथ जनक से सलाह कर दोनों ही वहां पहुंच गये और पीछे के रिक्त स्थान पर आकर बैठ गये।

उधर अयोध्या के मुख्य-मन्त्री ने पीछे से एक संवाद प्रसा-रित कर सब को चिन्ता-निमग्न कर दिया। वह संवाद था— 'राजा दशरथ महाव्याधि से जूझ रहे हैं। कुशल भैषजों की देख-रेख में उनकी चिकित्सा हो रही है। डॉक्टरों की राय है कि उनसे कोई बातचीत न करे और न किसी को मिलने दिया जाये। राजा के स्वास्थ्य सम्बन्धी समाचारों की जानकारी आपको यथासमय दी जाती रहेगी।' नागरिक इस संवाद से बड़े व्यथित हो उठे। वे प्रतिक्षण सुख-संवादों के लिए व्यग्र हो रहे थे। किन्तु लोकमानस में सन्देह का ज्वार उठ रहा था।

मंत्रियों ने ऐसा दृश्य उपस्थित कर रखा था कि दूर से देखने वाले को यह लगता कि महाराज दशरथ पलंग पर लेटे हुए हैं और वे रोगग्रस्त हैं।

इधर विभीषण दशरथ-वध के लिए सुसज्जित होकर लंका से रवाना हो चुका था। रात्रि का घना अन्धकार था। दीये और प्रकाश-केन्द्र ज्योति-हीन हो रहे थे। वे टिमटिमाते हुए अपने अस्त होने की सूचना दे रहे थे। अयोध्या में प्रवेश करते ही विभीषण को दशरथ के महारोग से ग्रस्त होने की सूचना मिल गई। उसने सोचा—चलो, अच्छा हुआ, सहज काम हो जाएगा। विभीषण छद्मवेश में था। नाटकीय ढंग से अपना परिचय दे

कुशल संवाद के लिए वह भीतर घुस गया। देखा, दशरथ बेसुध हैं। अन्तिम सांसें गिन रहे हैं। विभीषण ने झट तलवार निकाली और एक ही वार में काम समाप्त कर बाहर दौड़ आया। धड़ अलग हो गया। खून का प्रवाह फूट पड़ा। विद्युत् की भांति समग्र नगर में इस जघन्य हत्याकाण्ड की खबर फैल गई। सम्पूर्ण शहर शोक-सागर में डूब गया। अन्तःपुर में हाहाकार मच गया। लोग इस आकस्मिक स्थिति पर सन्देह के स्वरों में पूछ रहे थे—क्या हुआ, कैसे हुआ, क्या रहस्य है ?

विभीषण पलायन कर चुका था। सारी दौड़-धूप व्यर्थ सिद्ध हुई। विभीषण अपनी योजना में अपने को सफल समझ प्रसन्न-मन लौट गया। मिथिला जाने का प्रोग्राम उसने इसलिए रद्द कर दिया कि दशरथ ही नहीं है तो फिर पुत्र होने की कल्पना ही निरर्थक है। कारण के अभाव में कार्य का अभाव है।

भाई को आया देख रावण ने जिज्ञासा की भाषा में पूछा—क्या बात है ? विभीषण ने कहा—वे तो यमलोक का इन्तजार कर रहे थे। मेरे आगमन की ही प्रतीक्षा में थे। 'मृतस्य किं मरणम्', मृत को क्या मारना ! वे महाभयंकर रोग से लड़ रहे थे। मैंने उन्हें शीघ्र ही रोग-मुक्त कर दिया। राजा रावण यह संवाद सुनकर बहुत खुश हुआ। उसने विभीषण को अनेकशः धन्यवाद दिया और कहा—'तुम बन्धु-हितैषी और राज-हितैषी हो। जान पर खेलकर भी सकुशल लौट आये। तुम्हारी स्वामी-भक्ति का उदाहरण इतिहास में सदा अंकित रहेगा।' रावण अभय बन गया। नैमित्तिक की भविष्यवाणी असत्य हो गई, यह सोच सबने अपने मन को सन्तुष्ट कर लिया।

कैकेयी वस्त्रालंकारों से अलंकृत हो, सखियों और परिचारिकाओं के साथ स्वयंवर-मण्डप में आ पहुंची। उसे देखकर

एक बार सबकी आंखें चुंधिया गईं। सभी अनिमेष नयनों से उसके सौंदर्य का पान करने लगे। विषयासक्त व्यक्तियों के लिए सौंदर्य का रस ही सब कुछ होता है। वे उसमें ही अमृत का दर्शन करते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'विष और विषयों में केवल इतना ही अन्तर है कि एक खाने से आदमी को मारता है और दूसरा दर्शन से।'

कैकेयी हाथ में वरमाला लेकर पंक्तिबद्ध अवस्थित राजा-राजकुमारों का परिचय पाती हुई आगे बढ़ रही थी। राजाओं का बाह्य ऐश्वर्य और सौंदर्य उसे प्रलुब्ध नहीं कर सका। वह आगे ही बढ़ रही थी। उसके हाथ की माला किसी के गले में नहीं पड़ रही थी। सभी चर्चा कर रहे थे, 'क्या इस विशाल मण्डप में कोई नहीं है, जो कैकेयी की वरमाला का वरण कर सके?' सभी पीछे मुड़कर कैकेयी को निहार रहे थे। देखते-देखते अन्तिम पंक्ति में उपविष्ट दशरथ के आगे उसके पैर रुक गये। उसने उनका अता-पता कुछ नहीं पूछा। सहसा वरमाला उनके गले में डाल दी। प्रेम बाह्य-वेश को नहीं देखता।

अन्य राजाओं तथा राजकुमारों को यह अपमानजनक लगा। उन्होंने अज्ञात कुल-शील व्यक्ति के गले में माला डालने को अपना अपमान समझा। एक ही स्वर से सब चिल्ला उठे—'निकाल लो गले से यह माला! यह नहीं हो सकता।' वातावरण एक क्षण में तनावपूर्ण हो गया।

दशरथ के निकट जैसे ही वे लोग आए तो दशरथ ने कहा—'यह अनधिकार चेष्टा है। इसे स्वतंत्रता है किसी को भी वरण करने की। यह स्वतंत्रता का अपमान है। किसी की आजादी में हस्तक्षेप करना अनुचित और अन्यायपूर्ण है। मैं वरमाला नहीं दूंगा। क्षत्रियत्व मेरी भी नसों में स्पन्दित हो रहा है। इसका

फैसला युद्ध ही करेगा।' दोनों ओर अखाड़े लग गये। आकस्मिक आह्वान ने उल्लासपूर्ण वातावरण को विषाक्त बना दिया। राजा शुभमति भी ससैन्य दशरथ के सहायक हो गये।

दोनों ओर से बाणों की वर्षा प्रारम्भ हो गई। दशरथ का रण-कौशल अपूर्व था। विपक्ष में भगदड़ शुरू हो गई। कैकेयी ने देखा—कुशल सारथी के अभाव में राजा दशरथ खिन्न हैं। उन्हें दुगुनी शक्ति से लड़ना पड़ रहा है। वह तत्क्षण रथ में बैठ घोड़ों की वल्गा अपने हाथ में लेकर सारथि का कार्य-संचालन करने लगी। राजा और रानी के अद्भुत साहस के सामने विपक्षियों की दाल नहीं गली। उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा। विजय-श्री दशरथ के हाथों लगी।

दशरथ कैकेयी के इस कुशल सारथित्व को देखकर उस पर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—भद्रे! मैं प्रसन्न हूं, तुम मांगो। कैकेयी 'मांगो' की इस ध्वनि को सुन भविष्य की गूढ़ कल्पना में खो गई। वह बड़ी दक्ष थी। नारी के मन की थाह लेना बड़ा कठिन है। उसने कहा—पतिवर! नारी अर्धांगिनी होती है। यह मेरा धर्म था। इस पर आप संतुष्ट होकर वरदान दे रहे हैं, यह आपकी महानता है। मेरे लिए सब कुछ आप हैं, मुझे क्या चाहिए? आपकी धरोहर यह सुरक्षित है, जब आवश्यकता होगी तब दासी आपके चरणों में उपस्थित होकर कुछ मांग लेगी।

उल्लासमय वातावरण में कैकेयी का विवाह राजा दशरथ के साथ हो गया। कुछ काल उन्होंने वहीं बिताना ठीक समझा। फिर स्थिति का सम्पूर्ण बोध कर उन्होंने अयोध्या की ओर प्रस्थान का अपना विचार व्यक्त किया। वहां के नागरिक इस संवाद से बांसों उछल पड़े, मानो खोयी निधि आज पुनः प्राप्त

हो गई हो। मूर्च्छित शवों में पुनः प्राण स्पन्दित हो उठे। दुःख सुख में परिवर्तित हो गया।

स्वागत की तैयारियां शुरू हो गईं। जगह-जगह नृत्य-गीत होने लगे। दशरथ ने निश्चित समय पर अयोध्या में प्रवेश किया। 'दशरथ की जय' के नारों से भूतल ध्वनित हो उठा। राजा प्रजाजनों का आन्तरिक आशीर्वाद और अभिवादन स्वीकार करते हुए ससम्मान राजधानी में लौट आये।

राम-लक्ष्मण का जन्म

राजा दशरथ की तीन रानियां थीं—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। राजा दशरथ राज्य-कार्य के साथ-साथ मानवीय जीवन का सुखोपभोग भी कर रहे थे। वासना के लिए उनकी वासना नहीं थी। यौवन को केवल वासना का कीड़ा बनाना उन्हें अभीष्ट नहीं था। वे मर्यादा से रहते थे। रति-सुख भी मर्यादा के बांध को तोड़ नहीं पाया था। जीवन का कार्यक्रम निर्बाध गति से चल रहा था।

रानी कौशल्या ने एक दिन अर्धरात्रि में सोये-सोते चार महास्वप्न देखे—हाथी, सिंह, चन्द्रमा और सूर्य। उसने राजा को जगाया और कहा—'ये चार स्वप्न मैंने अभी-अभी देखे हैं।' राजा दशरथ स्वप्न विज्ञान के ज्ञाता थे। उन्होंने कहा—प्रिये! ऐसा लगता है कि तुम एक वीर, धीर, धर्मवान् और यशस्वी संतान को उत्पन्न करोगी, जो हमारे कुल का आधारभूत होगा। इसलिए जाओ, धार्मिक जागरण करती हुई अवशिष्ट रात्रि को व्यतीत करो और गर्भ की हर प्रकार से सावधानी रखो।

कुछ दिनों बाद रानी सुमित्रा ने भी अपने स्वप्नों की सूचना राजा दशरथ को दी। उसने कहा—मैंने सात स्वप्न देखे हैं—

हाथी, सिंह, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, लक्ष्मी और समुद्र। राजा दशरथ ने सोचा—क्या दुनिया की सारों विभूतियां मेरे ही घर में आकर जन्म ले रही हैं ? वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सुमित्रा से कहा—'प्रिये ! तुम बहुत भाग्यशालिनी हो। यह पुत्र सूर्य की भांति महातेजस्वी होगा, जिसके सामने शत्रुओं का टिकना संभव नहीं होगा। स्वप्न-शास्त्र में इन स्वप्नों का बहुत बड़ा महत्त्व है। तुम इसकी अच्छी तरह देख-रेख करो।'

यथासमय दोनों ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया। राजा दशरथ ने पुत्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष में अपार दान दिया। बन्दी-जनों को विमुक्त किया। इस खुशी से कोई भी विक्षुब्ध न रहा, अतः समग्र नगर में अपूर्व उल्लास के साथ पुत्रोत्सव मनाया गया। नामकरण के समय राजा ने दोनों के नाम क्रमशः राम और लक्ष्मण रखे।

दोनों भाई सूर्य और चांद की तरह तेजस्वी और प्रशान्त थे। आनन्दपूर्ण वातावरण में दोनों का विकास होने लगा। राजा ने उनकी यशोचित व्यवस्था की। विद्याध्ययन के काल में राजा ने उन्हें योग्य आचार्य के हाथों में सौंप दिया। राम-लक्ष्मण आचार्य के कृपा-पात्र थे। उन्होंने अपनी विनम्रता, श्रद्धा और सेवा-परायणता से आचार्य के हृदय को जीत लिया। आचार्य ने उन्हें समस्त प्रकार की कलाओं की सांगोपांग शिक्षा देकर परिपूर्ण बना दिया। ज्ञान का बीज धरती में छिपा पड़ा था, आचार्य ने उसे प्रकट कर दिया। वे धर्म, अर्थ, काम और शस्त्रास्त्र विद्या में पारंगत हो गये। आचार्य ने उन्हें दशरथ के सामने प्रस्तुत किया। दशरथ का हृदय पुलकित हो उठा। अब वे शैशव की सीढ़ी को पार कर चुके थे।

भामण्डल का अपहरण

चक्रपुर नाम का एक नगर था। राजा चक्रध्वज वहां राज्य करता था। उसके एक पुत्री थी। उसका नाम चित्तोत्सवा था। वह सौन्दर्य और अपनी सौम्यता के कारण सबके चित्तों के लिए उत्सव के समान थी। राजा ने उसे विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल में प्रेषित किया। उसकी बुद्धि कुशाग्र थी। अपनी वय के साथ-साथ अध्ययन की कक्षाओं को भी वह पार कर रही थी। धीरे-धीरे यौवन की स्फुट रेखाएं उभरने लगीं।

गुरुकुल में आचार्य के पास और भी अनेक विद्यार्थी थे। पुरोहित का पुत्र पिंगल भी वहां पढ़ता था। चित्तोत्सवा और पिंगल दोनों में परस्पर सांठ-गांठ होने लगी। वे एक-दूसरे को ऐसे निहारने लगे, जैसे कुत्ता मांस के टुकड़े को निहारता है। वासना का वेग बढ़ने लगा। विद्याध्ययन का क्रम शिथिल हो गया। विकार और विद्याध्ययन, दोनों एक स्थान पर नहीं रह सकते। आंखों के दर्शन ने प्रेम पैदा कर दिया, प्रेम से रति उत्पन्न हो गई, रति से परस्पर विश्वास बढ़ने लगा और एक दिन उस विश्वास ने उन्हें प्रणय-सूत्र में बांध दिया। दोनों मौका पाकर एक दिन गुरुकुल से भागकर विदग्धपुर नगर पहुंच गये।

पिंगल गृह-कला में दक्ष था, पर वह जीवन-निर्वाह के क्षेत्र में उतरा नहीं था। उसके लिए अपना पेट पालना भी कठिन था, फिर एक और बला सिर पर उसने ले ली थी। मनुष्य भविष्य का चिन्तन पहले नहीं करता। 'फिर पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत।' उसके पैर लड़खड़ा गए। किन्तु वह प्रणय-सम्बन्ध के प्रगाढ़ बन्धन में बंध चुका था। इसे तोड़ना भी उसके लिए दुष्कर था। रूखा-सूखा खाकर भी वे वासना की आग में खेल रहे थे। किन्तु पेट काटकर कितने दिनों तक खेला जा सकता था! आखिर आजीविका के लिए जंगल से लकड़ियां लाने का कार्य शुरू किया। उससे जो कुछ मिल जाता, उसी से गुजारा कर दोनों टूटी-फूटी झोंपड़ी में सो जाते।

एक दिन पिंगल जंगल में लकड़ी लाने गया था। विदग्धपुर का राजकुमार कुंडलमंडल सैर करता हुआ उधर आ निकला। उसकी दृष्टि झोंपड़ी में चली गई। चित्तोत्सवा के सौन्दर्य ने उसे विषण्ण बना दिया। काम-बाण से उसका चित्त बिद्ध हो गया। उसे वह रत्न दिखाई दिया। उसने कहा—यह यहां कैसे? कामाकुल व्यक्ति क्या नहीं कर सकता! वहां मर्यादा और अमर्यादा का विवेक विस्मृत हो जाता है। बाज जैसे पक्षी को उठाकर ले जाता है वैसे ही वह चित्तोत्सवा को ले भागा।

पिंगल वापस लौटा तो उसे चित्तोत्सवा का दर्शन नहीं हुआ। वह बड़ा दुःखी हुआ। गली-गली की खाक छान ली, किंतु प्राणप्रिया की खबर नहीं मिली। वह पागल की भांति मारा-मारा भटकने लगा। उसे कहीं शान्ति नहीं मिली। घूमते-घूमते अकस्मात् उसकी भेंट एक मुनि से हो गई। वह वन्दन कर बोला—'भगवन्! मैं अशान्त हूं। इस संसार में अशान्ति ही अशान्ति है। मैं दुःखी हूं, मुझे दुःख से मुक्त कीजिए।' मुनि

करुणा-मूर्ति थे। दयार्द्र दृष्टि से उन्होंने देखा और कहा—'वत्स! दुःखों का कारण स्वयं मनुष्य की प्रवृत्तियां हैं। लोभ और मोह के कारण मनुष्य विविध यातनाओं को निमन्त्रण देता है। वासना के बीहड़ जाल में फंसकर वह मुक्त नहीं हो सकता। उसे रात-दिन चिन्ता, उद्वेग और अशान्ति के साथ ही रहना होता है। जो इनसे बचता है वही सुखी, शान्त और प्रसन्न रह सकता है। शान्ति चाहते हो तो इच्छाओं पर शासन करो। मन को भटकने से रोको।'

मुनि की वाणी से उसे कुछ शान्ति मिली। वह श्रमण बन गया। साधना में सतत जागृत रहने लगा, किन्तु यदा-कदा चित्तोत्सवा की स्मृति उसे बिचलित कर देती थी। उसकी स्मृति-मात्र से उसका मन-मयूर नाच उठता था, किन्तु ज्यों ही वह अपने को संभालता, पुनः साधना में स्थिर हो जाता। इस प्रकार अनेक वर्षों तक यह क्रम चलता रहा। धीरे-धीरे उसका शरीर शिथिल होने लगा। आयुष्य की स्थिति भी सन्निकट दीखने लगी। साधक अवस्था में शरीर त्यागकर वह स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। वहां उत्पन्न होते ही उसने अपने ज्ञान-बल से देखा—मैं कहां से आया हूं? कैसे आया हूं? विस्मृत स्मृतियां एक-एक कर आंखों के सामने तैरने लगीं। उसके मन ने प्रश्न किया कि चित्तोत्सवा कहां है? उसे कौन ले गया था? इसका समाधान भी उसे मिल गया।

कुंडलमण्डल चित्तोत्सवा को लाकर राजमहलों में नहीं रह सका। राज-भय और लोक-भय से देश को छोड़कर अयोध्या के आसपास उसने अपना डेरा डाल दिया। वह शक्तिशाली था। आसपास के लोगों को आतंकित करने लगा। राजा अनरण्य ने उसे पकड़ने की अनेक चेष्टाएं कीं, किन्तु वह पकड़ में नहीं आया।

सेनापति बलचक्र ने उसे पराजित कर वहां से खदेड़ दिया। उसके साथ अब केवल उसका शरीर था। वह बड़ा दुःखी हुआ। चित्तोत्सवा भी बिछुड़ गई। दुःख में व्यक्ति धर्म को खोजता है। उसकी शरण में उसे सान्त्वना मिलती है। वह सन्तों के चरणों में चला गया। उसे सदुपदेश से शांति मिली। उसने कहा—'प्रभो! मैं आपसे केवल यही व्रत स्वीकार करता हूं कि जीवनभर मैं मांस और मदिरा सेवन नहीं करूंगा।' 'स्वल्प मप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—धर्म का छोटा-सा आचरण भी व्यक्ति को महान् विपत्ति से बचा देता है।

चित्तोत्सवा भी बूढ़ी हो चली थी। न वह यौवन था और न वह जोश। जब उसे होश आया, उसे अपने कृत्यों पर ग्लानि होने लगी। मनुष्य-जीवन का क्या यही फल है? मैंने जीवन को व्यर्थ खो दिया। धर्म के बिना जो सांस आती है वह लुहार की धौंकनी की तरह निर्जीव है। वासना के कीचड़ में इस पवित्र वस्त्र को मैंने गन्दा कर दिया। हाय! अमूल्य हीरे को कौड़ी में लुटा दिया। इस प्रकार पश्चात्ताप करते-करते प्राणों का विसर्जन कर, वह स्वर्ग में उत्पन्न हो गई। वहां की लम्बी अवधि सम्पन्न कर मिथिलानगरी में राजा जनक की महारानी विदेहा के गर्भ में उत्पन्न हुई। ठीक इसी समय कुंडलमण्डल की आत्मा भी मनुष्य शरीर को छाड़कर विदेहा के गर्भ से उत्पन्न हुई। एक ही समय दो आत्माएं विकास पाने लगीं।

पिंगलदेव ने अपने शत्रु कंडलमण्डल को विदेहा के गर्भ में देखा। उसने सोचा—उत्पन्न होते ही वैर का बदला लूंगा। द्वेष की जड़ कितनी सुदृढ़ होती है कि शरीर के विनष्ट होने पर भी उसका विनाश नहीं होता। वह मनुष्य के साथ-साथ भवान्तर में भी चलती है। पिंगल की दृष्टि वहीं केन्द्रित हो गई। वह सतर्क

रहने लगा। जैसे ही विदेहा ने पुत्र और पुत्री को एक साथ जन्म दिया, चुपके से जैसे कुत्ता रोटी उठाकर ले जाता है, वैसे ही वह देव उस नवजात शिशु को ले भागा। रानी इस आकस्मिक घटना से संत्रस्त हो उठी। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगी। राजा जनक आया और पूछा—'क्या बात है?' रानी ने कहा—'पुत्र को कोई ले गया। मैंने युगल सन्तान का प्रसव किया था।' राजा ने कहा—'यह कैसे हो सकता है? तुम्हें भ्रान्ति हो गई होगी।' रानी ने कहा—'नहीं, सत्य है। अभी-अभी कोई उठाकर ले गया है।' राजा जनक ने सान्त्वना दी और कहा—'अभी खोज करता हूं, चिन्ता मत करो।' राजा ने चारों ओर गुप्तचरों और अनुचरों को भेजा, किन्तु सब खाली हाथ लौट आए। रानी पुत्री का मुंह देखकर दुःख भूलने लगी। उसे शान्ति मिली। वह सबके लिए शीतल थी, इसलिए उसका नाम 'सीता' रखा गया।

'जाको राखे साइयां, मार सके नहीं कोय'—जिसके पुण्यबल का उत्कर्ष होता है, उसे कौन मार सकता है? पिंगलदेव उसे उठाकर ले चला, किन्तु मार्ग में चलते-चलते भीतर से एक आवाज आयी कि 'यह बुरा है, अधर्म है।' आत्मा ने उसे रोक दिया। 'द्वेष को द्वेष से नहीं जीता जा सकता, घृणा से घृणा शांत नहीं होती। वैर को प्रेम से जीतो। घृणा आदमी से नहीं, बुरे कर्म से करो। द्वेष, घृणा और वैर स्वयं बुरे हैं।' उसे अपने कृत्य पर ग्लानि हुई। वह सोचने लगा—'मैंने मुनि-जीवन में समस्त प्रकार की हिंसा न करने का संकल्प किया था और आज इस अबोध शिशु-पंचेन्द्रिय जीवन का वध करने को सोच रहा हूं। धिक्कार है इस द्वेष-वृत्ति को, मेरे लिए यह श्रेय का मार्ग नहीं है।' यह सोच तत्क्षण अपने कुंडलों को शिशु के कानों में पहना, वैताढ्य पर्वत के शिला-तल पर उसे रख, वह चला गया।

वैताढ्य पर्वत पर विद्याधरों की बस्ती थी। विद्याधरपति चन्द्रगति उधर से आ निकला। उसके कोई पुत्र नहीं था। उसकी दृष्टि बालक के तेजस्वी मुख पर केन्द्रित हो गई। शिशु के उद्दीप्त तन को देखकर उसने अपने भाग्य की सराहना की। सोचा, आज भगवान् ने मुझ अनपत्य व्यक्ति की करुण पुकार सुन ली है। वर्षों की इच्छा फलवती हुई है। उसे अपने विमान में लेकर वह नगर में आ पहुंचा। राजमहलों में जा अपनी प्राणप्रिया महारानी की गोद में बच्चे को रखते हुए कहा—लो, आज तुम्हारी चिर-अभिलाषा सफल हो रही है। पुत्र-प्राप्ति के लिए तुमने कितनी मनौतियां की थीं, कितनी आराधनाएं की थीं, आज वे सफल हो गई हैं।

शिशु को देखकर रानी का चेहरा खिल उठा। उसे अपूर्व आनन्द मिला। समस्त नगर में पुत्रोत्सव मनाया गया। राजा ने सबका यथोचित सत्कार किया। पुत्र के कानों में दैविक कुंडल थे, जिससे चारों ओर प्रभामंडल प्रस्फुटित हो रहा था, इसलिए पुत्र का नाम भामंडल रखा।

विवाह का प्रस्ताव

राजा जनक मिथिला के राजा थे। मिथिला के आसपास म्लेच्छ लोगों का प्रभुत्व था। वे बड़े आतंककारी थे। वे मिथिला राज्य में भी अराजकता फैला रहे थे। राजा जनक के पास सैन्यबल था, किन्तु वह उनका मुकाबला करने में असमर्थ था। अशान्ति और अराजकता की घटनाएं सीमा को पार करने लगीं। राजा जनक के लिए ये बड़ी सिर-दर्द बन गईं। उन्हें बरदाश्त करना वश की बात नहीं थी। उन्होंने सोचा—क्या किया जाये? कैसे इनसे निपटा जाये? सोचते-सोचते उनका चिन्तन अयोध्या पर चला गया। राजा दशरथ की पुरातन स्मृतियां ताजी हो गईं। उन्हें विश्वास था, निःसन्देह इस विपत्ति के समय वे मेरा साथ देंगे।

दूत के हाथों लिखित और मौखिक सन्देश राजा दशरथ को पहुंचाया, जिसमें लिखा था कि 'मित्र की परीक्षा आपत्तिकाल में होती है। आप इस नीति-वाक्य से अपरिचित नहीं हैं। मैं इस समय अराजकता के संकट से गुजर रहा हूं। यह समय परीक्षा का है। जैसे छींक न आने पर जो झुंझलाहट होती है और उससे मुक्ति पाने के लिए मनुष्य सूर्य की ओर देखता है, ठीक मैं भी उसी स्थिति में हूं। मेरा दृढ़ विश्वास है इस समय आपका समु-

चित सहयोग मिलेगा।'

दूत दशरथ की राज्य-सभा में पहुंचा। राजा ने कुशल-संवाद पूछा। दूत ने वह पत्र राजा के हाथों में थमा दिया और मौखिक सन्देश भी सुना दिया। राजा दशरण धर्म-परायण और कुशल मैत्री-निर्वाहक थे। अतीत की घटनाएं स्मरण हो आयीं। उन्हें इस संवाद से बड़ा कष्ट हुआ। दूत को यों कहकर विदा किया, 'राजा आश्वस्त रहे, दशरथ सहायतार्थ आ रहे हैं।'

राजा दशरथ ने सेनापति को बुलाकर आदेश दिया कि सेना को सज्जित करें। युद्ध की शहनाई बज उठी। सैनिक अपने-अपने शस्त्रास्त्रों से सज्जित होने लगे। राम और लक्ष्मण इस आकस्मिक रणभेरी को सुनकर आश्चर्यान्वित हो उठे। वे पिताजी के चरणों में प्रणाम कर बोले—'यह तैयारी कहां के लिए हो रही है? दशरथ ने राजा जनक के साथ अपने पुरातन सम्बन्धों की जानकारी दी और कहा—'इस समय वे बड़े संकट में हैं। मित्रता के नाते मेरा धर्म है—मैं उन्हें तन, मन, धन और सैन्य बल का सहयोग देकर संकट-मुक्त करूं।'

राम ने कहा—'पिताजी! यह कार्य आपका नहीं, हमारा है। आप हमें आशीर्वाद दें। आपके आशीर्वाद से हम विजयी बनेंगे।' राजा दशरथ ने बिना ननुनच के सेना का नेतृत्व राम और लक्ष्मण के हाथों में सौंप उन्हें विदा दी। सिंह के बच्चे का क्या छोटा?' युद्ध के नाम से वीरत्व का स्रोत फूट पड़ा। यथाशीघ्र अयोध्या और मिथिला की दूरी को लांघकर वे मिथिला की सीमा में आ पहुंचे। राजा जनक संवाद पाकर बहुत प्रसन्न हुए। वह स्वागत करने के लिए आए, किन्तु जैसे ही यह सुना कि राजा दशरथ ने स्वयं न आकर अपने पुत्रों को भेजा है, वे उदास हो गये। पर राजा ने अपने असंतोष को बाहर व्यक्त नहीं

किया।

'अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरित्राणि च।
वञ्चनं चापमानं च, मतिमान् न प्रकाशयेत्।'

—अर्थहानि, मानसिक संताप, घरेलू दुश्चरित्र, कपट और अपमान— बुद्धिमान् व्यक्ति इनको प्रकट नहीं करते।

राजा ने इस नीति का स्मरण कर, ससम्मान उन्हें स्थान दिया। उनकी समुचित व्यवस्था की। राम-लक्ष्मण ने सोचा— यह समय आनन्द का नहीं है। इस समय हम युद्ध के लिए आये हैं। ये सब व्यवस्थाएं गौण हैं।' उन्होंने राजा जनक से कहा— 'आप और कार्य सब पीछे कीजिये। पहले अपने को मोर्चे पर चलना चाहिए, जहां से अराजकता का श्रीगणेश होता है।' राजा जनक पर राम-लक्ष्मण की इस नीतिपूर्ण और समयज्ञ वाणी का गहरा असर हुआ। वह उनके शौर्य और सौन्दर्य को मन्त्रमुग्ध-सा होकर निहारने लगा। राजा जनक राम के सैन्य-बल के साथ युद्ध-भूमि में आ खड़े हुए। विपक्षी सेना कमर कस-कर पहले ही तैयार थी। दोनों ओर की सेनाएं आमने-सामने आ गईं। राम ने कहा—'देखें, आपकी सेना का हौसला कैसा है? वे कैसे लड़ते हैं?' जनक की सेना अग्रसर हुई, किन्तु असुरों की छापामार प्रवृत्ति और नृशंस शक्ति के सामने वह अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकी। जैसे ही वह पीछे खिसकने लगी कि राम और लक्ष्मण मोर्चे पर आ खड़े हुए। वीरों में पुनः जोश पैदा हो गया। वे असुरों की सेना पर टूट पड़े। राम और लक्ष्मण की धनुष-टंकार के सामने असुरों के धनुष-बाणों की आवाज वैसे ही क्षीण हो गई, जिस तरह लम्बी तपस्याओं में वाणी क्षीण हो जाती है। असुर अपनी विजय में संदिग्ध हो गये। भागने से भी उन्हें त्राण नहीं दिखाई दिया। तब पराजय का प्रतीक झंडा

फहरा दिया, शस्त्र नीचे गिरा दिये और राम-लक्ष्मण के पैरों में आ गिरे। राम ने उन्हें सावधान करते हुए कहा—'भविष्य में ऐसी घटनाएं न हों। जनक के नेतृत्व में अपनी शासन-व्यवस्था करते रहो।' 'राम की जय, लक्ष्मण की जय, राजा जनक की जय' के नारों से दिशाएं उद्घोषित हो उठीं। राम के शौर्य की कहानी जल-प्रवाह की तरह सर्वत्र फैल गई।

राजा जनक का संशय कपूर की तरह हवा में उड़ गया। वे असंदिग्ध हो गये। इस घटना ने राजा जनक को सीता की ओर आकृष्ट कर दिया। वह सवयस्का हो गई थी। राजा ने सोचा, राम से बढ़कर उसके लिए उपयुक्त वर और कोई नहीं हो सकता। समान वय है, समान रूप है, समान शील और समान कुल है। क्यों न इसका लाभ उठाया जाये ? इससे हमारा प्रीति-सम्बन्ध और अधिक सुदृढ़ होगा। सीता का मन भी राम की यशोगाथा सुन और प्रत्यक्ष दर्शन कर उनके प्रति अनुरक्त हो गया। उसने अपने मन में यह संकल्प कर लिया कि 'राम के अतिरिक्त इस जीवन में वह किसी दूसरे के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगी।' राजा जनक ने यह प्रस्ताव राम के सामने प्रस्तुत कर दिया। सम्पूर्ण नगर इस चर्चा से हर्षोन्मत्त हो उठा। सबने इसका उन्मुक्त-कंठ से समर्थन किया।

सीता का स्वयंवर

सीता रूप-सम्पन्न और गुण-सम्पन्न थी। नारी-जनोचित सभी गुण उसमें विद्यमान थे। उसके सौन्दर्य की चर्चा मिथिला तक ही नहीं, दूर-दूर के अनेक प्रदेशों तक परिव्याप्त हो गई। महामुनि नारद ने भी यह बात कहीं से सुन ली थी। उनकी वासना विजित थी। वे अखण्ड ब्रह्मचारी थे। सीता की छवि देखने का लोभ-संवरण वे भी नहीं कर सके। दुनिया की अद्‌भुत वस्तु नारदजी से कैसे छिपी रहे! वे उसे देखने के लिए बिना पूर्व सूचना के ही सीधे मिथिला के राजमहलों में आकाश-पथ से आ उतरे। सीता उस समय अकेली बैठी थी। उसके लिए नारदजी की अपूर्व आकृति-दर्शन का प्रथम अवसर ही था। वह भयभीत हो गई। भय से शरीर कांपने लगा। उसके मुंह से—'कौन है? कौन है?' की चीख निकल पड़ी। आरक्षक घबराये हुए दौड़े-दौड़े आये। उन्होंने नारदजी को पकड़ लिया। राजा जनक भी होहल्ला सुन वहां आये। सामने नारद मुनि को देखा तो राजा स्तम्भित हो गया। उन्होंने शीघ्र छुड़ाया और सीता से कहा—बेटी, ये नारद ऋषि हैं, तुझे देखने आये हैं। इनसे तू डर गई? बेटी, डर मत। चल, मुनि की चरण-रज ले। राजा जनक ने सीता को

चरणों में गिराया और बोला—'प्रभो ! अपराध हो गया। आप क्षमा करें। हम आपके भक्त हैं।' नारदजी ने मन ही मन कहा—आज जैसी भक्ति तो पहले कभी नहीं हुई। अनुनय-विनय के बावजूद उनका अन्तःकोप प्रशांत नहीं हुआ। उन्होंने मन ही मन संकल्प कर लिया कि इस धृष्टता का फल तो इसे मिलना ही चाहिए। ऊपर से क्षमा देते हुए भीतर की कठोरता को साथ ले नारदजी रवाना हो गये। राजा जनक ने निर्णय कर लिया कि कोई न कोई आपत्ति अवश्य आयेगी। ये मुनि-प्रवर कुछ किये बिना नहीं रहेंगे।

वैताढ्य पर्वत पर रथनुपुर नामक नगर था। विद्याधर चन्द्रगति वहां का शासक था। भामण्डल शिक्षा-दीक्षा पाकर यहीं अभिवृद्ध हुआ था। वह पूर्ण युवा हो गया। युवक साथियों की टोली के पास भामण्डल खेलने में व्यस्त था। नारदजी सीधे वहीं पहुंचे। नारद ऋषि से बच्चे भी अपरिचित नहीं थे। सबने नारदजी को प्रणति की और कुशलसंवाद पूछा। भामण्डल ने आगे आकर पूछा—महाराज ! अभी किधर से आ रहे हैं ? हमें दर्शन देने का कष्ट कैसे किया ? नारदजी उत्तर दे ही रहे थे कि भामण्डल ने पूछा—'महामना ! यह आपकी कांख में चित्र-सा क्या है ?' नारदजी ने कहा—'बच्चो, हम तो रमते राम हैं। दुनिया की सैर करते हैं। बहुत सुनते और बहुत देखते हैं। तुम्हें इनसे क्या प्रयोजन है ?' भामण्डल देखने का आग्रह करने लगा और नारदजी उसे और मजबूत करने लगे। कशमकश में भामण्डल ने नारदजी की कांख से उसे खींचना शुरू किया। नारदजी ने बनावटी मुद्रा में कांख ढीला छोड़ते हुए कहा—'अरे ! यह क्या करता है ? इसे मत खींच।' भामण्डल ने खींच लिया और उसे देख वह अचेत हो धरती पर गिर पड़ा। मुनि

भी थोड़ी देर के लिए अन्तर्धान हो गये।

चन्द्रगति को खबर मिलते ही वह आया और साथियों से पूछा—क्या बात है? साथियों ने कहा—अभी-अभी नारदजी आये थे। उनके पास यह चित्र था। भामण्डल ने उसे देखने का हठ कर कांख से छीन लिया और उसे देख निष्क्रय हो गया। इतने में नारद मुनि प्रस्तुत हो गये। चन्द्रगति ने अभिवादन किया और कहा—मुने! यह क्या कर दिया? नारदजी ने कहा—मैंने इसे पहले ही मना किया था, किन्तु यह नहीं माना। मैं क्या करूं? चन्द्रगति ने उसे स्वस्थ किया। नारदजी से पूछा—भगवन्! क्या यह सत्य है? क्या ऐसी कन्या है? नारद बोले—'क्या हम असत्य चित्र तैयार करते हैं? ऐसी है, और वह अब तक अविवाहित है। चन्द्रगति ने पूछा—'कहां है? किसकी कन्या है?' सारा पता बताकर नारदजी वहां से कूच कर गये।

चन्द्रगति ने कहा—'पुत्र! चिन्ता मत कर। स्वस्थ रह। मैं ऐसा ही करूंगा, जिससे तेरी इच्छा सफल हो। चन्द्रगति ने योजना बनाई और अपने गुप्तचरों को उसे सफल करने का आदेश दे दिया। गुप्तचर मिथिला गये और निद्रित राजा जनक को उठा लाये। जनक की आंखें खुलीं तो उन्हें सब कुछ अपरिचित ही अपरिचित लगा। व्यक्ति और स्थान सब अपरिचित देखकर वे एक क्षण के लिए सहम गये। किन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने अपने को सजग कर लिया।

चन्द्रगति स्वागत के लिए प्रस्तुत था। उसने स्वागत किया और जनक से बोला—आप अपने आपको अपरिचितों के बीच पा रहे हैं। किन्तु हम आपसे परिचय करना चाहते हैं। केवल स्थूल परिचय ही नहीं, सूक्ष्म-आन्तरिक परिचय भी जोड़ना चाहते हैं। इसलिए आपको यहां लाया गया है। स्थिति को भांपने

में राजा जनक को समय नहीं लगा। बात को आगे बढ़ाते हुए चन्द्रगति ने कहा - 'आपके सीता नाम की पुत्री है। वह युवा रूप-सम्पन्न है।' भामण्डल को आगे करते हुए कहा—'देखिए, इसमें और उसमें क्या अन्तर है? मैं चाहता हूं इस सम्बन्ध की पुष्टि की जाये। हां, यदि इसमें आपको कुछ दोष या प्रतिकूलता दिखाई देती हो तो आप बताएं अन्यथा आपको इसमें आना-कानी नहीं करनी चाहिए। यह प्रेमपूर्वक याचना है। अगर ऐसे नहीं तो फिर···'

राजा जनक ने कहा—'आपका कहना अनुचित नहीं है। यह सर्वथा योग्य है किन्तु···' चन्दगति ने कहा—'किन्तु क्या?' जनक बोले—'ऐसा करना मेरे लिए बहुत बड़ी विपत्ति मोल लेना है। सीता का संबंध मैंने दशरथ के पुत्र राम के साथ करना तय कर दिया है। अब यह कैसे सम्भव हो सकता है, आप बताइए?'

चन्द्रगति ने कहा—'इसका समाधान मेरे पास है। वज्रावर्त और अरुणावर्त नाम के ये दो धनुष हैं। जो इन्हें चढ़ा सकेगा, वही सीता का वरण कर सकेगा। इस शर्त को स्वीकार करो, अन्यथा सीता को भी···' राजा जनक को विवशतापूर्वक इसे स्वीकार करना पड़ा।

इधर राजा जनक के गायब होने की खबर से संपूर्ण शहर में शोकलहर व्याप्त हो गई। रानी विदेहा दुख-सागर में डूब गई। वह कहने लगी, 'दैव! मैंने ऐसे क्या कर्म किये हैं जो विपत्ति के पहाड़ टूट रहे हैं। कहां गये हैं मेरे पतिदेव?' मंत्रियों ने खोज प्रारम्भ करवाई। दूर-दूर तक गुप्तचर सैनिक खोजने गये। किन्तु जनक आस-पास हों तो पता लगे। सर्वत्र चिन्ता ही चिन्ता दिखाई दे रही थी। दिन ने भी अपना मुंह गहरे काले तम के अंचल में छिपा लिया।

प्रातः सूर्य की किरणें प्रस्फुटित हुईं। अंधकार विलीन हुआ। इतने में चिन्ता के तम को चीरते हुए आकाश-पथ से चन्द्रगति का विमान समस्त सामग्री के साथ मिथिला की सीमा पर उतर गया। राजा जनक भी उसमें थे। सब लोगों के चेहरे जनक के कुशल-क्षेम के संवाद से प्रफुल्लित हो गये। राजा राजमहलों में पहुंचा। रानी की आंखें आंसुओं से छलछला रही थीं। राजा ने कहा, 'चिन्ता मत करो, मैं आ गया।' रानी ने कारण जानना चाहा, राजा ने अथ से इति तक की कहानी कह सुनाई। यह सुनकर रानी का दिल धक् से रह गया। वह अंचल से आंसुओं को पोंछती हुई बोली—'दैव! पुत्र को तूने छीन लिया और पुत्री का सम्बन्ध भी निर्विघ्न नहीं होने दे रहा है? तू कैसा क्रूर हृदय है? राजा ने कहा—चिन्ता की बात नहीं है। मैं जानता हूं राम और लक्ष्मण के बल को। तुम विश्वास करो। निःसन्देह राम विजयी होंगे।' यों कहकर रानी को आश्वस्त किया।

सीता के विवाह की शर्त रखी गई। दूर-दूर के राजा-राजकुमार उपस्थित हुए। राम और लक्ष्मण अभी वहीं समुपस्थित थे। मण्डप की व्यवस्था की गयी। सभी अपने निर्धारित आसनों पर उपस्थित हो गये। राजा जनक ने मंच पर आकर यह सूचना दी कि सीता के विवाह के लिए मैंने इस शर्त को मंजूर किया है कि जो वज्रावर्त और अरुणावर्त धनुष को चढ़ायेगा, सीता का···। लक्ष्मण वाक्य के समाप्त होने से पूर्व ही जोश में आकर बोल पड़े—'कौन है, जो सीता के साथ सम्बन्ध करना चाहता है? सीता राम की है, राम की ही रहेगी।' लक्ष्मण की आक्रोश-मुद्रा को देखकर सभी स्तब्ध रह गये। राम ने उन्हें शान्त किया और बैठाया। कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ।

क्रमशः एक-एक राजा-राजकुमार प्रस्तुत होने लगे। लक्ष्मण

के रोष से वे निर्वीर्य हो गये थे। उनका जोश ठंडा पड़ गया था। सहेलियां भी इधर सीता को कह रही थीं कि बहन! क्या होगा? कौन इसको चढ़ायेगा? अगर राम···'तुम क्या कहती हो? मेरा अटल विश्वास है, इसे और कोई नहीं चढ़ा सकेगा। और मान लो अगर किसी ने चढ़ा भी दिया तो क्या है? सीता राम के सिवाय किसी के साथ पाणि-ग्रहण नहीं करेगी। पिताजी से मेरा प्रण महान् है। राम विजयी होंगे।'

जैसे ही राजा-राजकुमार धनुष के सन्निकट आने लगे कि अग्नि और सांप के चित्रों ने प्रत्यक्ष अग्नि और सांपों का रूप धारण कर लिया। सांप फुफकारने लगे और अग्नि की ज्वालाएं विकराल बन मानो जलाने के लिए उनकी ओर बढ़ने लगीं। एक-एक मुंह लटकाये पुनः लौट आये। चन्द्रगति ने भामण्डल से कहा—'पुत्र! चलो, अब इसे अपन चढ़ायें। सकपकाया और संदिग्धमना भामण्डल भी निकट आकर जैसे ही धनुष लेने को हाथ बढ़ाने लगा कि ज्वालाएं और सांप उसे भी काटने दौड़े। अपने शस्त्र अपने ही शत्रु बन गये। तन के कपड़े जैसे दिन के फेर से शत्रु बन जाते हैं, वैसा ही हाल भामण्डल का हुआ। वह उन्हें नहीं चढ़ा सका। सभी अपने-अपने भाग्य की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर मुंह पर हाथ रख शोकमग्न-से बैठ गये। ऐसा लग रहा था कि धरती निर्वीर्या हो गई है। क्षत्रियत्व अवशेष हो गया है। ऐसे समय राम और लक्ष्मण उठकर धनुष के समीप आये।

लोग कहने लगे—'ये बड़े-बड़े दिग्गज राजा लोग जिसे नहीं चढ़ा सके, ये दुधमुंहे बच्चे इन्हें कैसे चढ़ा सकेंगे?' सभी की दृष्टि राम-लक्ष्मण एवं धनुषों की ओर लगी हुई थी। राम ने लोगों की फुसफुसाहट पर ध्यान नहीं दिया। महान् व्यक्ति आलोचना पर ध्यान नहीं देते। उनकी दृष्टि अपने लक्ष्य पर रहती है। राम

और लक्ष्मण के दर्शन मात्र से अग्नि शान्त हो गई, सांप पुनः चित्र में बदल गये। सब कुछ शान्त था। फूल की तरह वज्रावर्त धनुष को उठाकर राम ने प्रत्यंचा लगाकर बाण को शून्य में छोड़ दिया। दूसरा लक्ष्मण ने इसी तरह उठाकर फेंक दिया। सभा देखती रह गई। 'राम की जय', 'लक्ष्मण की जय', 'सीता की जय'—इस ध्वनि से मण्डप गुंजित हो उठा। सीता वरमाला लिये हुए सन्नद्ध थी। धनुष की टंकार के साथ बाहर आयी, मानो बादलों में बिजली कौंध गई हो। राम के गले में उसने वरमाला डाल दी। सीता का दृढ़ संकल्प फलवान् बना। सतीत्व का प्रथम परीक्षण सफल हुआ।

अयोध्या से राजा दशरथ को आमन्त्रित किया गया। दशरथ साज-सज्जा के साथ विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए। बहुत धूम-धाम और प्रसन्न वातावरण में राम के साथ सीता के विवाह की विधि सम्पन्न हुई। राजा दशरथ उल्लसित चित्त पुत्र-वधू को लेकर बाराती और परिजनों के साथ सकुशल अयोध्या लौट आये।

राम का राज्याभिषेक

राजा दशरथ ने अयोध्या में विवाहोत्सव के उपलक्ष में एक आयोजन किया। सारे नगर को सजाया गया। गीत, वाद्य और नृत्यों से समस्त नगर में उत्सव मूर्तिमान हो गया। लोग उपहारों को सजाने में व्यस्त हो गये। राजमहल भी विशेष रूप से सज्जित किये गये। रानियां भी उत्सव के लिए सज-धजकर तैयार होने लगीं। राजा दशरथ ने इस अवसर पर रानियों के स्नान के लिए विशेष पानी की व्यवस्था की। कौशल्याजी का विशेष सम्मान प्रदर्शित करने के लिए पुरुष दास को पानी के लिए भेजा, और अन्य रानियों के लिए दासियों को। दासियां जल लेकर आ गईं। रानियों ने स्नान कर लिया और वे अलंकृत भी हो गईं। किन्तु कौशल्या जी के लिए अभी तक पानी नहीं पहुंचा। उनसे यह देखा न गया। स्वयं को बहुत अपमानित समझ उन्होंने स्वयं से कहा— इस अपमानित जीवन से मरना ही अच्छा है। मैं सब में बड़ी हूं, और मेरी कोई इज्जत नहीं। इस जहर को पीना मेरे लिए संभव नहीं है। यह सोच गले में रस्सी डाल वे आत्महत्या के लिए तैयार हो गईं।

राजा दशरथ ने देखा, 'सब रानियां तैयार हैं। पर कौशल्या जी अभी तक नहीं आयीं, क्या बात है? चलो, पता लगायें।'

जैसे ही वे महल में प्रवष्टि हुए तो दंग रह गये। कौशल्याजी मरने की तैयारी में थीं। राजा ने तत्क्षण रस्सी तोड़ उन्हें मुक्त किया और पूछा –'इस नाराजगी का क्या कारण है?' रानी की आंखों से आसुओं का प्रवाह फूट पड़ा। वे बोलीं, 'मैं यह अपमान कैसे सह सकती हूं? सब के लिए पानी आ गया और मेरे लिए अब तक···' इतने में द्वार पर आवाज आयी—'लो रानीजी! पानी।'

राजा दशरथ ने कहा—'तुम्हारे सम्मान के लिए मैंने आदमी को भेजा था और अन्य रानियों के लिए दासियों को।' राजा ने दास से पूछा, 'भाई! इतनी देर कैसे कर दी?' नौकर ने कहा—'स्वामिन्! बूढ़ा हो गया हूं। पैर काम नहीं करते। आंखों से ठीक दिखाई नहीं देता। कान सुनने से इनकार कर रहे हैं। हाथ कांपते हैं। शरीर में झुर्रियां पड़ गईं। देह शिथिल हो गया। बिना लकड़ी के सहारे चलना कठिन हो गया है। दांतों ने एक-एक करके विदा ले ली है। अब आप ही बताएं, मैं जल्दी कैसे आ सकता हूं?' इस बात को सुनकर रानी का क्रोध शान्त हो गया। उसे अपने अविचारित कार्य के प्रति ग्लानि होने लगी। राजा के प्रति अपने सम्मान के लिए उसने कृतज्ञता प्रकट की।

दास की बात से राजा दशरथ अतर्कित भविष्य की कल्पना में खो गए। उन्हें लगा—यह बुढ़ापा किसी को भी छोड़ने वाला नहीं है। यौवन पर तुषारापात होने वाला है। यह राहु यौवन-रूपी सूर्य को निगलना चाहता है। मनुष्य इससे आक्रान्त होने के बाद कुछ नहीं कर सकता। उसकी स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। वह पर-मुखापेक्षी बन मन ही मन यन्त्रणाएं अनुभव करता रहता है। उसे सब ओर से केवल झिड़कियां ही मिलती हैं। अच्छा है, इसके आगमन से पूर्व ही मुझे श्रेय की ओर प्रस्थान कर देना

चाहिए। बीता हुआ समय लौटकर वापस नहीं आता। उन्होंने विवाहोत्सव को राज्याभिषेक के उत्सव में परिणत करने का और स्वयं संन्यास-आश्रम श्रमण-धर्म में प्रस्थान करने का निर्णय ले लिया।

प्रधान सचिवों को निमन्त्रित कर राजा ने कहा—'वार्द्धक्ये मुनिवृत्तिनां, योगेनान्ते तनुं त्यजात्' अयोध्या के राजाओं की इस परम्परा से आप परिचित हैं। उनका शरीर-विसर्जन भोग में नहीं, योग में होता था। इसके लिए वे मौन-वृत्ति का अवलम्बन लेकर अपने को उसके लिए पूर्णतः सक्षम बना लेते थे। मैं उस परम्परा को कैसे तोड़ सकता हूं? मेरा मन उसके लिए अब पूर्णतया सज्ज हो गया है। इसलिए आप राम के राज्याभिषेक की तैयारी करें। मैं शीघ्र ही श्रामण्य-चर्या स्वीकार करूंगा।

राम के राज्याभिषेक और राजा दशरथ के दीक्षित होने का समाचार क्षणभर में सम्पूर्ण नगर में प्रसारित हो गया। राजा दशरथ का निश्चय पर्वत की भांति अटल था। उन्हें किसी भी तरह विचलित नहीं किया जा सकता था। नागरिकों और परिजनों को इसमें सहयोगी होना चाहिए, क्योंकि यह आत्म-निर्माण की वेला है। जीवन का ध्येय भोग और राजसत्ता से चिपके रहना नहीं है। सबने इसका समर्थन किया। राजा दशरथ सम्पूर्ण कार्य से मुक्त हो, इसकी तैयारी में संलग्न थे।

वनवास

भरत के कानों में यह बात पड़ी तो वे पिताजी के चरणों में प्रस्तुत हुए। उन्होंने पूछा—'पिताजी ! मैंने सुना है कि आप राज्यवैभव ठुकराकर आत्म-परिष्कार के लिए साधना-क्षेत्र में उतर रहे हैं।' राजा दशरथ ने स्वीकृति की भाषा में कहा—'हां।' भरत ने कहा—'पिताजी ! मैं भी आपकी सेवा में प्रस्तुत होना चाहता हूं। मेरा मन नश्वर संसार से विरक्त है। आपका पथ ही मेरा पथ होगा। जीवन की निश्चित अवधि का ज्ञान किसे है? सिंह जैसे मृग को उठाकर ले जाता है, मौत वैसे ही इन्सान को ले जाती है। मौत की किसी के साथ दोस्ती नहीं है। वह आदमी को कहीं भी नहीं छोड़तो। उसके लिए असंख्य द्वार हैं।'

इस वृत्तान्त से कैकेयी को बड़ा आघात लगा। उसका मन भारी हो गया। पति और पुत्र दोनों की जुदाई ने उसके दिल को प्रकम्पित कर दिया। यह वियोग की पीड़ा उसके लिए असह्य हो गई। उसे अपना भविष्य अंधकारपूर्ण प्रतीत होने लगा। वह मन ही मन कहने लगी, 'मेरा अब कौन आधार रहेगा? पति और पुत्र दोनों में से एक के सहारे मैं अपनी गाड़ी चला सकती थी, किन्तु पुत्र भी अभिनिष्क्रमण कर रहा है। कौशल्याजी और सुमित्राजी

तो राम-लक्ष्मण और शत्रुघ्न का मुख-दर्शन कर अपने मन को टिका लेंगी, किन्तु मैं···कौशल्याजी राजमाता के रूप में सम्मानित होंगी। मैं टुकुर-टुकुर यह सब देखती रहूंगी। मुझे कोई नहीं पूछेगा। जगह-जगह अपमान का घूंट पीना पड़ेगा।' इन कल्पनाओं के साथ उसे अपना जीवन बोझिल लगने लगा। आखिर उसने निश्चय किया कि येन केन प्रकारेण भरत को रख ही लेना चाहिए।

पर ··भरत रुकेगा नहीं। रुक भी जायेगा तो उसका मन उदासीन रहेगा। वह मेरी ओर से भी मध्यस्थ रहेगा। इसलिए इसका मन रम जाये और मेरा सम्मान भी रह जाये, ऐसा उपाय करना चाहिए। इस चिन्तन ने उसे अतीत में पहुंचा दिया। उसकी विवाह की स्मृति ताजी हो गई और उसके साथ दिया हुआ महाराज दशरथ का वरदान भी स्मृतिपटल पर उभर आया। उसने किसी से कुछ विचार-विमर्श नहीं किया और न ही भरत को सूचित किया। वह सीधी राजमहल में प्रविष्ट हो गई। दशरथ बैठे थे। वह भी उदासीन मन पति के निकट जाकर बैठ गई। राजा ने पूछा—'बोलो, कैसे आयी हो? क्यों उदास हो?' आंखों में आंसू भरते हुए कैकेयी ने कहा—'सुना है, आप दीक्षित हो रहे हैं, और आपके साथ पुत्र भरत···'

राजा दशरथ ने कहा—'हां!' रानी ने कहा—'इतने वर्षों का परिचय और पवित्र संबंध अब कुछ समय में टूटने वाला है। इस घटना की स्मृति से दिल भरा जा रहा है, उदास हो रहा है।' राजा दशरथ ने विविध प्रकार से उसे आश्वस्त किया। जीवन की क्षण-भंगुरता और भोगों की निस्सारता से अवगत कराया। रानी ने कहा—'मैं भी जानती हूं, जीवन का लक्ष्य भोग नहीं किन्तु हम वासना के कीड़े उससे आगे दृष्टि-न्यास नहीं

कर सकते। इसलिए यह घटना पीड़ा-जनक प्रतीत होती है। यह जीवन का वास्तविक कर्त्तव्य है। किन्तु भरत ने संसार में क्या देखा ? क्या सुना ? क्या रसास्वादन किया ? वह भी आपके साथ जा रहा है।

'मैं चाहती हूं आप आराम से अभिनिष्क्रमण करें और यह भी चाहती हूं कि आप सर्वथा उऋण होकर प्रस्थान करें। आप पर ऋण रहेगा तो उससे आपको शान्ति नहीं मिलेगी। इसलिए मैं याद दिलाना चाहती हूं कि आपने मुझे जो वरदान दिया था उसे अब मुझे···।' दशरथ ने कहा, 'तुम बड़े अच्छे समय में आयीं। शायद वह यों ही रह जाता। मेरे पास फिर कुछ रहता ही नहीं।' दशरथ अब तक भी उसके मन में नहीं बैठ सके या नारी-हृदय को समझ नहीं सके थे। उन्होंने बिना रुके एक ही सांस में कह दिया, 'तुम मांगो, मुझे देना है।' कैकेयी ने कहा—'मैं और कुछ नहीं चाहती, यही चाहती हूं कि अयोध्या का राजतिलक राम के ललाट पर नहीं, किन्तु भरत···' इन शब्दों को सुनते ही दशरथ बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े। तत्क्षण अंगरक्षक, सचिव आदि उपस्थित हुए और शीतलोपचार से राजा को सचेत किया। वे स्वस्थ हुए। किन्तु उनका मन आंदोलित हो उठा। अकल्पित विपत्ति का पहाड़ उन पर टूट पड़ा। युद्ध में भी वे इतने हताश नहीं हुए थे जितने कि इस अतर्कित और असंगत याचना से। राजा ने सोचा, 'नारी का हृदय कितना कठोर होता है वह अपने स्वार्थ के लिए न्याय-अन्याय, कर्तव्य-अकर्तव्य की समग्र सीमाएं लांघ जाती है।' स्खलित स्वरों को साधते हुए उन्होंने कैकेयी को यह कहकर विदा दी, 'तुम जाओ, मैं अपने वचन पर दृढ़ हूं, ऐसा ही होगा। अयोध्यावासी प्राण दे सकते हैं, किन्तु वचन भंग नहीं कर सकते।' कैकेयी अपने मंत्र की सफलता

देख खुशी से फूल उठी। वह राजमाता बनने का सपना देखती हुई लौट आयी।

राजमहलों और संपूर्ण अयोध्या का वातावरण इस वृत्तान्त से एक क्षण के लिए विषण्ण हो गया। अन्याय, अन्याय, अन्याय की ही ध्वनि सर्वत्र सुनाई देने लगी। राम ने राजा दशरथ की विषण्णता और कैकेयी की याचना दोनों बातें सुनीं। वे तत्काल दशरथ के चरणों में प्रस्तुत हुए। राजा दशरथ विभ्रान्त चित्त थे। राम ने चरणों में प्रणाम किया और प्रकम्पित स्वर में कहा—'पिताजी ! आप क्या सोच रहे हैं ? भरत और राम में कोई अन्तर नहीं है। दायीं और बायीं—दोनों आंखों में जैसे कोई फर्क नहीं होता वैसे ही हम हैं। आपको चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। राम के लिए राज्य और वन दोनों समान हैं। वह कभी विचलित होने वाला नहीं है। जैसे आप मेरा राज्याभिषेक कर रहे हैं वैसे ही भरत का कीजिए।' राम के ये शब्द दशरथ के लिए महौषधि का काम कर रहे थे। दशरथ को सान्त्वना मिली। वे बोले—'पुत्र ! तुमसे यही आशा थी। तुम धीर हो, गंभीर हो और दशरथ-कुल के दीपक हो। राज्य के लिए जहां लोग खून से खेलते हैं, वहां तुम प्रेम को लेकर जी रहे हो। मैं धन्य हूं, कृतकृत्य हूं ऐसे पुत्र को जन्म देकर।

उधर समाचार मिलते ही भरत दौड़ आये। उनका हृदय इस घटना से द्रवित हो गया। उन्होंने कहा—'पिताजी ! यह नहीं हो सकता। राज्याभिषेक राम का ही होगा। मैं इस स्वार्थमय जगत् में नहीं रहना चाहता। मुझे इस विश्व से कोई प्रेम नहीं है। इस चर्चा से मेरा कोई संबंध नहीं है।' दशरथ ने कहा—'पुत्र भरत ! तुम इससे सम्बन्धित नहीं हो, यह मैं जानता हूं। किन्तु तुम्हारी मां कैकेयी ने जब यह वरदान मांग लिया है, तब मुझे देना ही

होगा और एक न एक को राज्य-सिंहासन पर आसीन होना ही होगा।' भरत ने कहा—'पिताजी ! आप क्या कह रहे हैं ? ये शब्द आपके मुंह से शोभित नहीं लगते। राज्य के अधिकारी राम हैं, राज्य उन्हें ही मिलना चाहिए। अन्यथा दुनिया क्या कहेगी ? मां कैकेयी को राज्य चाहिए तो उसे दीजिए, भरत राज्य नहीं करेगा।' गुत्थी को उलझते देख, राम ने कहा—'भाई भरत ! तुम कब कहते हो, मुझे राज्य चाहिए ? तुम्हारे भ्रातृ-प्रेम में किसे संदेह है ? किन्तु मां की प्रार्थना और पिताजी के वचन का क्या कोई मूल्य नहीं है ? लोग कहेंगे कि दशरथ ने वचन का पालन नहीं किया। दुनिया में अपयश होगा। हमारा चिरकालीन विश्वास धूमिल हो जायेगा। इसलिए तुम हठ मत करो, सोचो और इसे स्वीकार कर लो।'

भरत बोले—'भाईजी ! आप मुझे मोठी बातों से लुभा रहे हैं। मैं बच्चा नहीं हूं। अपयश इससे नहीं, मेरे राज्य पर बैठने से ज्यादा होगा। लोग कहेंगे भरत राज्य-लोभी है। मैं जन्म-जन्मान्तर तक भी इस अपयश को धो नहीं सकूंगा। आपकी उपस्थिति में भरत राज्य नहीं कर सकता।' राम तत्क्षण बोल पड़े—'अच्छा, अपने शब्दों पर दृढ़ रहना। पिताजी ! यह भरत कह रहा है, मैं आपके रहते राज्य नहीं करूंगा। लो, मैं वनवास ले···' भरत ने कहा—'यह क्या अनर्थ कर रहे हैं ? आगे मत बोलिए।' राम ने कहा—'पिताजी ! भरत का राज्याभिषेक कीजिए। मैं वनवास को जाता हूं। मेरे रहते यह राज्य करना नहीं चाहता। आपके वचनपालन के लिए मैं सब कुछ परित्याग कर सकता हूं।' भरत ने कहा—'भाईजी ! यह क्या कर रहे हैं ? यह एक और बोझ क्यों सिर पर डाल रहे हैं ?' राम ने कहा—'इसके अतिरिक्त और क्या शेष बचा है ?' राम ने पिता के चरणों

में अभिवादन किया और चलने लगे। दशरथ के हृदय पर यह एक और अप्रत्याशित वज्रपात हो गया। किन्तु धैर्य के साथ इस कटु घूंट को भी वे पी गये।

राम ने सभी माताओं को प्रणाम किया और वनवास की ओर चल पड़े। सीता और लक्ष्मण इस समय क्या पीछे रहने वाले थे? सीता अनुचरी थी। सुकुमार शरीर, अनुपम लावण्य, कोमलता की प्रतिमूर्ति सीता भी इस अवसर पर पीछे नहीं रही। 'सुख में साथ और दुख में किनारा कसना' आर्योचित ललनाओं का स्वभाव नहीं होता। आर्य-बालाएं योग-वियोग में साथ देती हैं। उसने राजसी वेश उतार फेंका और तत्क्षण समस्त माताओं की अर्चना कर आशीर्वाद ले राम के पीछे आ खड़ी हुई।

लक्ष्मण इस संवाद से बड़े क्रुद्ध हो उठे। वे यह घोषणा करते हुए कि 'कौन है, जो भरत को राज्य देने की बात करता है? कहां है वह राज्यसिंहासन पर बैठने वाला भरत? यह नहीं हो सकता!' महलों से बाहर निकल पड़े। राम ने शांत किया और कहा—'व्यवहार समुचित नहीं है। मैंने जो किया है, वह ठीक किया है। भरत नहीं चाहता राज्य लेना, किन्तु यह पिताजी की प्रतिज्ञा का प्रश्न है। माता कैकेयी ने मांगा है, उसका पालन होना चाहिए।' लक्ष्मण भी राम के साथ हो गये।

अयोध्या के नागरिक इस संवाद से विषण्ण हो उठे। सर्वत्र मायूसी छा गई। परिजन और प्रजा सभी को शोक-सागर में छोड़ तीनों चल पड़े। समग्र शहर आंसू बहाता हुआ पीछे चला आ रहा था। स्त्रियों का सहज करुण हृदय उद्वेलित हो उठा। उनके करुण स्वर से उस शोक-सागर में ज्वार आ गया। सीता को देख वे सुबक-सुबककर रोने लगीं और कहने लगीं—'धन्य है तू सती, जो इस कठोर परीक्षण के लिए प्रस्तुत हो गई। जैसा विवाह

वैसा ही वनवास।'

राम ने प्रजा को आश्वस्त किया और नगर में लौटने के लिए कहा। राम ने संक्षिप्त वक्तव्य में कहा—'भरत की जगह मुझे समझना। इसका आदेश मेरा आदेश है। मेरी ही तरह भरत प्रजा-वत्सल है। मेरा विश्वास है, इसके कार्य-कलाप मुझे विस्मृत करा देंगे। भरत के राज्य में आप फलें-फूलें, बस मेरा यही संदेश है।' सहस्रों-सहस्रों नेत्र बरस रहे थे। सब मौन थे। राम आंखों से अदृश्य हो गये।

राम की पितृभक्ति, साहस और अनासक्ति की तथा कैकेयी की कुटिलता की घर-घर चर्चा होने लगी। कैकेयी को सर्वत्र धिक्कार ही धिक्कार मिल रहा था। सौ सौ विच्छुओं के दंश से भी अधिक कैकेयी को यह निन्दा की पीड़ा सताने लगी। उसने देखा काम भी नहीं बना और अपयश भी कमाया। भरत से बोली—'चलो, जहां राम है वहां जायें और उन्हें पुनः नगर में लेकर आयें।'

दोनों रथ में बैठ चल पड़े। राम ने प्रणाम किया। कैकेयी ने कहा, 'चलो, मेरी मूर्खता को माफ करो। यह सब मेरा अपराध है। स्त्री स्वार्थिनी होती है। वह भविष्य का चिन्तन नहीं करती, केवल वर्तमान देखती है। मेरा हृदय माताओं की चीत्कार सुनकर फटा जा रहा है। बड़ा पाप किया, अब उसे धोने वाला कोई नहीं है।'

राम ने कहा—'माताजी! ऐसा मत कहो। यह बहुत अच्छा हुआ। राज्य तो छोटे भाई को मिलना चाहिए। आपने कोई अनुचित कार्य नहीं किया। आप प्रसन्न रहें।' सीता राम का संकेत समझकर दोने में जल ले आयी। राम ने भरत के सिर पर

जल डाल अभिषेक कर दिया और चल पड़े। भरत ने रोते-रोते कहा—'भाईजी! यह राज्य आपका है। आपकी अनुपस्थिति में मैं काम करूंगा।' राम ने कहा—'अच्छा।' भरत पुनः अयोध्या में लौट आये।

दृढ़ प्रतिज्ञ वज्रकर्ण

दशांगपुर उज्जयिनी राज्य के अन्तर्गत था। उज्जयिनी का सिंहासन सिंहोदर से अलंकृत था। दशांगपुर की देख-रेख का भार वज्रकर्ण पर था। एक दिन राजा वज्रकर्ण अपने सामन्तों के साथ वन-विहार को गया। वन में एक स्वतन्त्र विचरण करने वाले हिरण को देखकर राजा ने अपना घोड़ा उसके पीछे कर दिया। राजा ने अवसर देख निशाना साध मृग पर बाण छोड़ा, मृग बाण से घायल हो गया। वह दूर खड़े एक मुनि के चरणों के निकट तड़पता हुआ आ गिरा। राजा भी सीधा उसी दिशा में चलता हुआ वहीं आ पहुंचा। मुनि को देखते ही राजा का हृदय धक्-धक् करने लगा। वह भयभीत हो गया। मौत किसे प्रिय है? किन्तु मनुष्य को इसका बोध तभी होता है जब अपने पर बीतती है? हिरण के प्राण लूटते समय राजा को यह भय और पीड़ा नहीं हुई जो अपने पर संकट को देखकर हो रही थी।

राजा ने सोचा, यह वन्य-मृग मुनि का है। मुनि के शाप से आज अवश्य अभिशप्त हो जाऊंगा। अनिष्ट की आशंका से शरीर पसीने से लथपथ हो रहा था। मुनि की समाधि टूटी। आंखें खुलीं। मृग के प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। सामने मृग मरा

पड़ा था और अपराधी की भांति राजा सामने दीनता की मुद्रा में खड़ा था। ऐसा लग रहा था कि वह प्राणों की भीख मांग रहा है। मुनि ने कहा—राजन्! तुझे अभय है। किन्तु तू भी अभय-दाता बन। अपने प्राण सबको प्रिय हैं। जैसा जीवन तुझे इष्ट है, वैसा इसे भी। अपने समान सबको समझ। यह कितना अधम कार्य है। अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए मूक, निरपराध प्रणियों का वध करना, क्या यही मनुष्यता है? मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है, इस पर विचार कर।

राजा ने अभिवादन कर कहा—'मुने! मैं अपराधी हूं। यह जघन्य कार्य इन हाथों से हुआ है। आप मुझे क्षमा कर दें। मैं अनभिज्ञ और अज्ञानी हूं। आपकी अमृतोपम वाणी ने आज मुझे मार्गदर्शन दिया है। आप मार्गदाता हैं। यह अनुभूति मुझे आज ही हुई कि जीवन सबको प्रिय है। प्रभो! भविष्य में अब ऐसा अपराध नहीं होगा। मेरे श्रेय के लिए मुझे कुछ सदुपदेश दें, जिससे मैं मानव जीवन को सफल बना सकूं।'

मुनि ने देखा—भव्यात्मा है। उसे वीतराग-धर्म में दीक्षित किया। वह सम्यक्-द्रष्टा बना। उसका संकल्प था—मैं वीतराग के सिवाय अन्य किसी को देव (आराध्य), निर्ग्रन्थ (शुद्ध साधु) के सिवाय अन्य किसी को गुरु और वीतराग द्वारा प्ररूपित अहिंसा, सत्य आदि धर्म के सिवाय दूसरा धर्म नहीं मानूंगा। मेरे आत्म-विकास की यही रत्नत्रयी है। मैं इनके अतिरिक्त किसी के सामने नमन नहीं करूंगा। यह प्रतिज्ञा ले मुनि को पुनः अभिवादन कर राजा अपने नगर में सकुशल पहुंच गया।

आज से राजा की जीवन-धारा सर्वथा परिवर्तित हो गई। राजनीति में धर्म के सफल प्रयोग होने लगे। जहां विश्वास होता है वहां सब असंदिग्ध हो जाता है। सन्देह से सन्देह की गांठ

घुलती है और वहीं उसका विकास होता है। विश्वास की स्थिति में सन्देह को खेलने का अवसर नहीं मिलता, वह स्वयं पराजित हो जाता है। राजनीति केवल संदेह की नीति नहीं है। जीवन का ध्येय जब सत्ता होता है तब मन में कुछ और बाहर कुछ विचार रखने होते हैं। राजा के लिए धर्म सर्वोपरि था, और सब कुछ गौण। राज्य में सर्वत्र आनन्द की वर्षा होने लगी। प्रजा को राजा पर गर्व था और राजा को प्रजा पर। राजा का सम्मान शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। सब इससे प्रसन्न थे। किन्तु कुछ चिढ़ने वाले भी मिलते हैं। राजा की प्रतिष्ठा, सम्मान उन्हें खटकने लगा। पिशुन-दुर्जन व्यक्ति सज्जनों के अकारण दुश्मन होते हैं। वे सज्जनता की प्रतिष्ठा कैसे सहन कर सकते हैं?

उज्जयिनी का राज-दरबार जुड़ा था। सभी अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर बैठे हुए थे। राजा वज्रकर्ण उपस्थित नहीं था। सबने राजा सिंहोदर का स्वागत किया और बैठ गये। राजा ने आंख पसाकर देखा, दरबार में प्रायः सभी कुर्सियां अलंकृत थीं। किसी ने अवसर देख राजा के कानों में फूंक मार दी कि राजा वज्रकर्ण नहीं है। वे किसी को नमस्कार नहीं करते, ऐसा सुना है। राजा सिंहोदर ने वस्तु स्थिति का पता लगाने का प्रयत्न किया और इस आकस्मिक संवाद से उत्तेजित हो उठा। उसने मन ही मन सोचा—'मेरा खाना और हाजिरी नहीं देना। यह कैसे हो सकता है?' सभासत्र समाप्त हो गया। सेना को सज्जित करने का आदेश देकर वे शयन-कक्ष में चले गये।

राजा आया और पलंग पर लेट गया। उसे यह पता नहीं कि पलंग के नीचे कोई बैठा है। मौत से खेलता हुआ भी एक व्यक्ति वहां पहुंच गया। रानी भी आ गई। उसे रानी के कानों के

कुंडल लेने थे। वह प्रतीक्षा में था कि कब राजा को नींद आए और कब उसका काम बने। किंतु न राजा की आंखों में नींद थी और न रानी की। राजा करवटें बदल रहा था। रानी ने पूछा—'आज किस चिन्ता में हैं? नींद क्यों नहीं आ···राजा ने बीच ही में कहा—'रानी! दशांगपुर के राजा वज्रकर्ण को अभिमान हो गया है। वह झुकता नहीं। दरबार में भी उपस्थित नहीं होता है। यह रात्रि व्यवधान बन रही है। सुबह ही चढ़ाई कर उसके गर्वोन्नत मस्तक की खुजली शान्त करना है।' राजा की एक ही सांस में कही हुई इस बात को सुन वह व्यक्ति वहां से बिना कुण्डल लिये खिसककर दशांगपुर पहुंच गया और राजा वज्रकर्ण को यथार्थ स्थिति से अवगत करा दिया।

युद्ध की आशंका से नागरिक घबरा गये। राजा वज्रकर्ण ने आवश्यक रसद सामग्री को पूर्ति कर ली। प्रातः काल देखते-देखते समग्र शहर सेना के घेरे में आ गया। आने-जाने वालों का मार्ग अवरुद्ध हो गया। बाहर वाले बाहर रह गये और भीतर वाले भीतर। सभी प्रसवपीड़ा में से गुजर रहे थे। राजा सिंहोदर ने दूत द्वारा संदेश भेजा कि 'आओ और झुको' नहीं तो तलवार के शिकार बनो। वज्रकर्ण ने सविनय संदेश भिजवाया, 'मुझे अहं नहीं है। मैं आपका हूं और आपका रहूंगा। मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं देव, गुरु, धर्म के अतिरिक्त किसी व्यक्ति के सामने नत-सिर नहीं बनता। इसीलिए आपके निकट उपस्थित नहीं हो सका। बस! और कुछ नहीं है।' सिंहोदर पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

राम, लक्ष्मण और सीता दशांगपुर की सीमा से कुछ दूर एक वृक्ष के नीचे बैठे विश्राम कर रहे थे। राम का ध्यान सामने के विशाल निर्जन मार्ग की ओर चला गया। राम ने लक्ष्मण से

कहा—'लक्ष्मण ! यह विशाल पथ शून्य क्यों है, किसी से पूछना चाहिए।' इतने में एक पथिक उधर से आ निकला। राम ने उसे निकट बुलाकर पूछा—'क्या तुम इस मार्ग की शून्यता का कारण जानते हो? हम जानना चाहते हैं। यह उजड़ा हुआ-सा क्यों है?'

पथिक वाक्पटु था। उनसे कहा—'क्या आप सुनेंगे?' राम ने कहा—'हां।' पथिक ने बात को प्रलम्बित कर बड़े सरल ढंग से समग्र वृत्तान्त को राम के कानों तक पहुंचा दिया। राम ने पूछा—'तुम्हें इसकी खबर कैसे लगी? वह कौन था जो कुण्डल लेने गया था?' पथिक बोला—'वह और कोई नहीं, मैं स्वयं ही था।' राम और लक्ष्मण विस्मित आंखों से उसे निहारते रहे। राम ने पूछा—'तुम कौन हो? कैसे गए और क्यों गए?'

उसने बताया—'मेरा नाम विद्युत् अंग है। मैं व्यापारार्थ यहां आया था। कामलता यहां की प्रसिद्ध वेश्या है। मैं उसके प्रेमपाश में पड़ गया। जो कुछ धन था वह सब वेश्या को दे दिया। वेश्या किसी की नहीं होती। वह धन की होती है। मेरे पास धन नहीं रहा तब उसने मुझे निकालते हुए कहा—अगर सिंहोदर की रानी के कुण्डल लेकर आओगे तो यहां रह सकोगे। मैं मोहान्ध राजमहल में पहुंच गया। राजा सिंहोदर के मुख से यह सब सुन यहां सूचना देने आ गया।'

राम ने लक्ष्मण से कहा—'लक्ष्मण ! राजा वज्रकर्ण को इस धर्म-संकट से हमें उबारना चाहिए।' लक्ष्मण ने सविनय निवेदन किया—'प्रभो ! आप यहीं रहें। पहले मैं जाकर आता हूं।' लक्ष्मण शौर्य के पुंज रूप थे। आज भी मिथिला नगरी में धनुष-बाणों को तोड़ने की उनकी प्रतिध्वनि यत्र-यत्र सुनाई देती है। लक्ष्मण निर्भय अकेले ही हाथ में धनुष-बाण ले राजा सिंहोदर

की सैनिक पंक्ति को चीरते हुए राजमहल में आ पहुंचे। किसी का साहस नहीं हुआ कि उनसे कुछ पूछा जाय। सिंहोदर के सैनिक एक-दूसरे का मुंह ताकते देखते रहे।

स्वागत की मुद्रा में खड़े राजा वज्रकर्ण ने पूछा—'आप श्रीमान् कौन हैं? मुझे लगता है धर्म की रक्षा के लिए आप यहां आये हैं।' राम के सेवक के रूप में लक्ष्मण ने अपना परिचय दिया और कहा—'प्रभु राम ने मुझे स्थिति की जानकारी के लिए भेजा है।'

राजा वज्रकर्ण ने पूछा—'राम और सीता कहां हैं? यह आपका नगर है, कृपा कर यहां पधारें और मुझे सेवा का अवसर प्रदान करें।' लक्ष्मण ने कहा—'वे नगर के बाहर बैठे हैं, तुम चलो और प्रार्थना करो।' राजा ने कहा—'मैं कैसे जा सकता हूं?' लक्ष्मण ने कहा—'घबराने की कोई बात नहीं है। मैं भी तो आया हूं। चलो, तुम मेरे साथ चलो।' राजा ने रथ तैयार कराया और लक्ष्मण के साथ रथ में बैठ राम के चरणों में आ पहुंचा। राजा ने निवेदन किया और सीता-राम को लेकर पुनः महलों में लौट आया। सब देखते रह गये। पुण्य के सामने जैसे पाप का बल नहीं चलता वैसे ही राम-लक्ष्मण के सामने किसी का कुछ नहीं चला। राजा ने भोजन-विश्राम के लिए प्रार्थना की। राम ने कहा—'ये कार्य सब पीछे, पहले संकट-मुक्ति का कार्य है।' राम का आदेश ले, लक्ष्मण सिंहोदर के शिविर में पहुंचे।

लक्ष्मण ने कहा—'राजा सिंहोदर कहां है?' आरक्षक ने कहा—'क्यों, क्या बात है?' लक्ष्मण ने कहा—'राजा सिंहोदर से कहो कि अयोध्या के सम्राट भरत का दूत आपसे मिलने के लिए आया है।' राजाज्ञा से लक्ष्मण वहां पहुंचे। उन्होंने राजा

सिंहोदर से पूछा—'यह क्या मामला है ? अकारण ये युद्ध के बादल क्यों मंडरा रहे हैं ? सम्राट् भरत ने आदेश दिया है कि इसका समाधान करा देना। मैं इसीलिए आया हूं।'

राजा सिंहोदर ने कहा—'आपको किसने पंच माना है ? हम सुलह इन हथियारों से करेंगे। आप चले जाइए। राजा वज्रकर्ण घमंड में चूर है। उसका दर्प ध्वंस करना है। उपास्य के सामने अहंकार नहीं चल सकता।' लक्ष्मण ने कहा—'घमण्ड वहां नहीं, यहां है। वह अपने धर्म का पालन कर रहा है, आपको इसमें क्या कष्ट है ? वह आपका आज्ञाकारी है, सेवक है, बस सिर्फ हाथ ही नहीं जोड़ता है। यह उसकी प्रतिज्ञा है। आपको व्यर्थ विवाद नहीं बढ़ाना चाहिए। प्रेम सबसे महत्वपूर्ण है। प्रेम करो, प्रेम मिलेगा।'

सिंहोदर यह सब सुन क्रुद्ध हो गया। उसने कहा—'रहने दो यह उपदेश ! छोटे मुंह बड़ी बात, शर्म नहीं आती !' लक्ष्मण ने कहा—'शर्म आपको आनी चाहिए जो कि अकारण हिंसा की होली खेलने जा रहे हो।' राजा सिंहोदर आग-बबूला हो गया। उसने कहा—'वज्रकर्ण को पीछे, पहले यह दूत ही मृत्यु का शिकार होना चाहता है।' बात ही बात में युद्ध ठन गया। दोनों ओर से मुठभेड़ हो गयी। राजा हाथी पर बैठे बाणों की बौछार करने लगा। लक्ष्मण एक-एक कर सब शस्त्र तृण की तरह तोड़ते गये। अन्त में आलान को उखाड़ उसके सहारे ऊपर चढ़ राजा को पकड़ राम के समीप ले आये और बोले—'प्रभो ! यह राजा सिंहोदर उपस्थित है।' राम ने कहा—'लक्ष्मण ! यह क्या किया ? ऐसा नहीं करना चाहिए।' लक्ष्मण ने कहा—'प्रभो ! मैं क्या करूं ? बातों से नहीं समझा तब मुझे ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ा।' राजा सिंहोदर ने अब पहचाना कि ये राम

और लक्ष्मण हैं।

राजा ने कहा—'प्रभो ! यदि मुझे यह पहले ही कह देते कि मैं लक्ष्मण हूं तो व्यर्थ इतनी बात बढ़ती भी नहीं जैसा आपका आदेश होता मैं वैसा ही करने को तत्पर हो जाता।' राजा राम के चरणों में नत-मस्तत हो गया। राम ने समझाकर पुनः दोनों को मैत्री के धागे में बांध दिया और कहा—'अब दोनों स्वतन्त्र हो। दोनों ही अयोध्या के अनुशासन में रहो।'

संकट-मोचन

कुबेर नगर में कल्याण सुमाल नाम का राजा राज्य करता था। वह तरुण था। एक दिन राजा जल-क्रीड़ा के लिए नदी पर गया। नदी का पानी बांधा हुआ था। लक्ष्मण जल लेने उसी नदी पर पहुंचे। लक्ष्मण की दृष्टि राजा पर पड़ी और राजा की लक्ष्मण पर। दोनों ने एक-दूसरे को पढ़ लिया। लक्ष्मण को लगा—यह विषादग्रस्त है। नर के वेश में एक नारी है। राजा ने देखा—यह व्यक्ति साधारण नहीं है। रूप-सम्पन्न और शौर्य-सम्पन्न है। हमारी समस्या का समाधान इन्हीं के द्वारा हो सकता है। 'मैं राम का सेवक हूं। पानी लेने के लिए आया हूं।' यह परिचय जानकर राजा ने समझ लिया कि ये लक्ष्मण हैं। वे महलों में राम-लक्ष्मण और सीता को सादर ले आये।

दिन बीते। एक दिन राजा कल्याण सुमाल और मन्त्री राम-लक्ष्मण के समीप बैठे थे। राम ने पूछा—'कहो, क्या बात है? ऐसे रहने का क्या कारण है?' प्रधान मन्त्री ने सविनय निवेदन करते हुए कहा—'आप कल्याण सुमाल राजा हैं। आपके पिताश्री बाल्यखिल्ल हैं। हमारे आसपास म्लेच्छों का बड़ा आतंक रहता है। राजा बाल्यखिल्ल उन्हें हर समय धन आदि

देते रहे थे। किन्तु फिर भी वे शान्त नहीं हुए। एक दिन वे धन के लिए राजा को पकड़कर ले गये। राजा की कोई सन्तान नहीं थी। रानी ने एक पुत्री को जन्म दिया। मैंने नगर में यह उद्-घोषणा कराई कि रानी ने पुत्र को जन्म दिया है। आप जानते हैं, राज्य का अधिकारी पुत्र होता है। पुत्र के अभाव में राज्य-शासन कितना कठिन होता है। पुत्री को उसी दिन से पुरुष-वेश में रखा गया। युवा होने पर कल्याण सुमाल नाम से उन्हें राज-गद्दी पर आसीन किया गया।

राम ने प्रधान मन्त्री के चातुर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा—'जब तक राजा वापस न लौटें, तब तक इस बात को गुप्त ही रखना चाहिए।' प्रधान मन्त्री ने निवेदन किया—'आपके शुभ-समागम की प्रतीक्षा में ही थे। आज भाग्य से आपका आगमन हो गया। अब हम निश्चिन्त हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि अब हम शीघ्र ही दुःख-मुक्त बनेंगे और इसके साथ-साथ राजा की चिन्ता से भी। घर बैठे गंगा आ गई है। इस सुअवसर को कौन सुफल नहीं बनायेगा ?' राम ने उन्हें आश्वस्त किया और एक दिन उन्होंने पौ फटने से पूर्व ही म्लेच्छ बस्ती की ओर प्रस्थान कर दिया।

म्लेच्छों का प्रधान अपनी सेना के साथ उसी ओर आ रहा था। दूर से पद-चाप सुनाई दी। राम ने लक्ष्मण से कहा—'लक्ष्मण ! यह दल-बल आ रहा है। संभवतः यही है मलेच्छ सेना।' तीनों सावधान हो गये।

मलेच्छाधिपति ने भी तीनों को दूर से देखा। सीता के सौंदर्य की झांकी पाते ही उसने शीघ्र आदेश दिया, 'उसे पकड़ लो और छीन ले आओ !' राम ने मुसकराते हुए कहा—'लक्ष्मण ! सीता के लिए आ रहे हैं।'

नशे में धुत्त, पागलों की तरह चेष्टाएं करते हुए जैसे ही म्लेच्छ निकट आये कि लक्ष्मण ने अपने सशक्त हाथों से शून्य में बाण छोड़ा। धनुष की टंकार से ही सैनिकों का जोश ठंडा हो गया। नशा उतर गया। निस्तेज-से भयमुद्रा में इधर-उधर झांकने लगे। कुछेक, जो पलायन में पटु थे, भाग खड़े हुए। लक्ष्मण की रोषारुण आकृति करालकाल की-सी लग रही थी। हाथों में बाण देख भय-विह्वल वे म्लेच्छ इधर-उधर खिसकने लगे।

प्रधान का कलेजा भी प्रकम्पित हो गया। उसने सोचा, बिना समर्पण किये आज जीवित रहना कठिन है। उसने अपने शस्त्र फेंक दिये। वह दल-बल सहित राम-लक्ष्मण के चरणों में प्रणत हो गया और विनम्र वाणी में बोला—'मैं सेवक हूं, अधीनस्थ हूं। जैसा आपका आदेश होगा, वैसा ही करूंगा।'

राम ने उसकी आकृति को पढ़ा और सोचा कि यह जन्मना इस परम्परा का नहीं है। उन्होंने पूछा—'तुम इसमें कैसे प्रवृत्त हुए?' म्लेच्छपति ने कहा—'प्रभुवर! मैं अग्निहोत्री विश्वानल ब्राह्मण का पुत्र रुद्रदेव हूं। बचपन से ही मेरी संगति ऐसे साथियों से हो गई, जो दुर्व्यसनों में खेलने वाले थे। मैं ब्राह्मण होकर भी उन दुर्व्यसनों में कुशल हो गया। जुआ, चोरी, शराब आदि कई आदतों ने मुझे जकड़ लिया। एक दुर्व्यसन भी बहुत होता है। जहां अनेक का संगम हो जाता है, वहां विनाश का पथ स्वतः सुगम हो जाता है।

'एक दिन मैं चोरी करते हुए रंगे हाथों पकड़ा गया। राजा ने मुझे फांसी का हुक्म दे दिया। नगर के अनेक दयालु नागरिकों ने मुझे ब्राह्मण समझ राजा से छोड़ने की प्रार्थना की। राजा ने ब्राह्मण के प्रति सहृदय बन मुझे छोड़ दिया। अपमानित होकर

मुझे वहां रहना अच्छा नहीं लगा। मैं वहां से चला गया। मेरी म्लेच्छ लोगों से भेंट हो गई। मेरे दुस्साहस, असीम बल और वीरोचित कार्यों से प्रभावित हो इन्होंने इस कोकानन्द म्लेच्छ जाति की बागडोर मेरे हाथों में सौंप दी। तब से बराबर मैं उत्तरदायित्वपूर्वक इसका निर्वाह कर रहा हूं। मुक्ति-वाहिनी की तरह हमारे छापामार कार्यों का सर्वत्र आतंक था। आज आपने मेरी आंखें खोल दीं। जैसे पारस लोहे को स्वर्ण बना देता है, आपने मुझे स्वर्ण बना दिया।'

राम ने कहा—'सबसे पहला कार्य यह है कि राजा बाल्य-खिल्ल को मुक्त करो और दूसरा कार्य यह है कि इस आतंक-कारी प्रवृत्ति को समाप्त करो।' उसने दोनों आज्ञाएं शिरोधार्य कीं। राजा को बन्धन-मुक्त किया। राम ने कहा—'आतंक समस्या का सही और चिरकालीन समाधान नहीं है। उसके विस्फोट का धमाका जब कभी होता है बहुत तीव्रतर होता है। शोषण और जुल्मों पर खड़ा किया गया भवन अधिक दिनों तक सुरक्षित नहीं रहता। उसमें प्रतिशोध की आग अनवरत प्रज्ज्व-लित रहती है। इसलिए प्रेम करो और प्रेम से रहो।' राम और लक्ष्मण के चरणों में गिर उसने अपने अपराध की क्षमा मांगी और भविष्य में मानवोचित आचरण करने का आश्वासन दिया।

अग्निहोत्री ब्राह्मण

अरुण नाम का एक छोटा-सा गांव था, जिसमें एक अग्निहोत्री ब्राह्मण का परिवार रहता था। राम, लक्ष्मण और सीता पानी पीने के लिए इसी गांव में आये। पूछते-पूछते ब्राह्मण के द्वार पर आकर रुके। ब्राह्मण बाहर गया हुआ था। ब्राह्मणी सुशर्मा घर में थी। वह आवाज सुनकर बाहर आयी। उसने अतिथियों का स्वागत किया। बैठने के लिए अलग-अलग आसन दिये और कहा—'आप लोग बैठें, मैं पानी लाती हूं।' ब्राह्मणी के मधुर शब्दों ने सबका चित्त प्रसन्न कर दिया। 'पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम्'—मधुर वाणी विश्व में तीसरा रत्न है। जिसके पास यह नहीं है, उसके पास कुछ नहीं है। सबसे बड़ा दरिद्र वही है। ब्राह्मणी के पास तीनों रत्न थे।

वह शीतल और स्वच्छ जल एक बर्तन में ले आयी। तीनों को पानी पिलाया। कृतज्ञता प्रकट करने में वे कृपण नहीं थे। उन्होंने आभार प्रकट किया, धन्यवाद दिया और चलने की तैयारी करने लगे। इतने में अग्निहोत्री ब्राह्मण आ पहुंचा। ब्राह्मण का नाम कपिल था। वह मात्र नाम का ब्राह्मण था। इनको बैठे देखकर वह आगबबूला हो गया। क्रोध में मनुष्य

का विवेक विलुप्त हो जाता है। वह ब्राह्मणी पर बरसने लगा।

उसने कहा—'तू कैसी ढीठ है ? रोज किसी न किसी को द्वार पर बैठाए रखती है। क्या नहीं जानती, यह अग्निहोत्री ब्राह्मण का घर है ? यह कैसे मैले-कुचैले हैं ? तू घर को अपवित्र कर रही है।' सुशर्मा लज्जा से जमीन में धंसी जा रही थी। वह सीता की ओट में आकर बैठ गयी। विप्र का क्रोध शांत नहीं हुआ। वह जलती लकड़ी हाथ में लेकर उसका मुंह जलाने के लिए आगे बढ़ा।

लक्ष्मण से यह अशिष्ट और अभद्र व्यवहार सहन नहीं हुआ। उन्होंने देखा—यह कैसा ब्राह्मण है ? दोनों में पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। यह मनुष्य नहीं, दानव है। इसकी धृष्टता का फल इसे मिलना ही चाहिए। जैसे ही वह निकट आया कि लक्ष्मण ब्राह्मण के पैर पकड़कर उसे आकाश में चक्र की तरह घुमाने लगे। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। लक्ष्मण ने उसे आकाश में उछाल दिया। लोग उसकी चिल्लाहट को सुन इकट्ठे हो गये। 'बचाओ—बचाओ की दीनता भरी पुकार सुन लक्ष्मण ने गेंद की तरह पुनः हाथों में उसे थाम लिया और धरती पर खड़ा कर दिया। वह चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध की क्षमा मांगने लगा। लोगों ने कहा—'मूर्ख ! तू इतना भी नहीं जानता कि ये कौन हैं ? ये हैं राम, लक्ष्मण और सीता। किसी के साथ भी ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता जैसा तूने इनके साथ किया है।'

राम ने कहा—'देख यह कैसी साध्वी स्त्री है जिसकी वाणी से अमृत बरस रहा है और एक तू जो अग्निहोत्री ब्राह्मण कहलाता है, रात-दिन पूजा करता है किन्तु शिष्टता क्या है, इसे भी नहीं जानता है ? इस बेचारी को तंग करता है।' ब्राह्मण अपनी मूर्खता पर बड़ा लज्जित हुआ। उसने क्षमा के स्वरों में कहा—

"क्षमा कीजिए, अब मैं ऐसा व्यवहार नहीं करूंगा। हम बड़े प्रेम से रहेंगे। महापुरुषों की संगति किसे पवित्र नहीं बनाती। आपने हमारे घर को स्वर्ग बना दिया।" तीनों ने वहां से विदा ली।

जहां राम, वहां अयोध्या

एक वटवृक्ष पर यक्ष गोकर्ण का निवासस्थान था। राम, लक्ष्मण और सीता विश्राम के लिए वहीं आ पहुंचे। वृक्ष की सघन शीतल छांह में सभी पथ की क्लान्ति दूर कर रहे थे। यक्ष अपने नीचे उन तेजस्वी और महा शक्तिशाली मनुष्यों को देख भयभीत हो गया। श्वास और वास छोड़ना असह्य है। उसे लगा, अब यह स्थान छूटने वाला है। कोई कमजोर व्यक्ति होता तो मैं डर दिखाकर भगा देता, किन्तु ये निर्भय और शौर्यवान् हैं। इनके साथ मैं नहीं निपट सकता। 'क्या करूं, कहां जाऊँ' ऐसा सोचते-सोचते वह अपने स्वामी ईभकर्ण के सामने प्रस्तुत हुआ और सभय मुद्रा में बोला—'स्वामिन्! आज मेरा स्थान छूट रहा है, न जाने कौन वहां आकर बैठ गये हैं?' यक्ष-स्वामी ने ज्ञान-शक्ति से देखा और झट बोले—'अरे, तू भाग्यशाली है। तेरे घर बहुत बड़े अतिथि आये हैं। यह सेवा का समय था, डरने का नहीं। इस युग के महान् व्यक्ति वासुदेव और बलदेव—लक्ष्मण और राम तेरे घर आये हैं, और तू यहां भागकर आया है। जा, जल्दी सेवा कर।'

यक्ष उन्हीं पैरों लौट आया। सभी निर्भय सोये हुए थे। यक्ष ने विशाल वन में बात ही बात में अयोध्या नगरी का निर्माण कर

दिया। लम्बी-चौड़ी सड़कें, बाजार, चौराहे—सब कुछ वैसी ही सजावट।

बांसुरी की मधुर ध्वनि से स्वयं उनके चित्त को आह्लादित करने लगा। मधुर संगीत-लहरी से सबकी क्लान्तता दूर हो गई। मन प्रसन्न हो गया। राम की अलसाई आंखें अयोध्या के दृश्य को देख स्तम्भित हो गईं। वे कल्पना में खो गये। क्या यह स्वप्न देख रहा हूं? इंद्रजाल है या देवमाया है? अयोध्या के समान सब कुछ वैसा ही चित्र यहां कैसे?

सन्देह के पर्दे का अनावरण करते हुए यक्ष गोकर्ण करबद्ध सामने उपस्थित हुआ और विनम्र स्वरों में बोला—'यह सब मैंने किया है। आप मेरे अतिथि हैं। अतिथि-सत्कार मेरा धर्म है। मैं यहां का निवासी गोकर्ण यक्ष हूं। आप-जैसे महान् आत्माओं का समागम पुण्य के योग से होता है। यह आपके स्वागत के लिए है। वर्षाऋतु का समय है। मुनिजन भी चातुर्मास में विहार नहीं करते, आप कहां इस समय विचरण करेंगे? चार महीने यहीं विश्राम कीजिए। मुझे सेवा का सुअवसर प्रदान कीजिए।' राम वहीं ठहर गये।

एक-एक कर चार महीने समाप्त हो गये। राम, लक्ष्मण और सीता प्रस्थान की तैयारी करने लगे। यक्ष ने पुनः निवेदन किया, किन्तु वे आराम के लिए नहीं आये थे। परोपकार उनके जीवन का व्रत था। चरण आगे बढ़ने के लिए चल पड़े। गोकर्ण ने राम को दिव्य स्वयंप्रभ हार, लक्ष्मण को कानों में पहनने के लिए दिव्य कुंडल और सीता के लिए रत्न-चूड़ामणि शिरो-भूषण उपहृत किये और एक सुन्दर वीणा दी। एक बात और उसने कही कि जब कभी भी उसके योग्य सेवा-कार्य हो तो स्मरण मात्र से वह उपस्थित हो जायेगा।

राम के साथ वह दूर पहुंचाने गया। राम आगे बढ़ चले। वह अपने स्थान पर पुनः लौट आया। देवकृत अयोध्या को समेट लिया। तब से यह कहावत चल पड़ी कि 'जहां राम वहां अयोध्या'।

वनमाला

विजयपुर में महीधर राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम इंद्राणी था। वनमाला पुत्री थी। वह रूप-लावण्य और विविध शिक्षा-दीक्षा से संपन्न थी। क्रमशः बाल्यावस्था को पार कर वह यौवन में आयी। लक्ष्मण को उसने प्रत्यक्ष नहीं देखा था, किन्तु उनकी यशोगाथा उसके कानों तक पहुंच चुकी थी। वह लक्ष्मण के प्रति आकृष्ट हो गयी थी। उसने मन-ही-मन यह संकल्प कर लिया कि वह लक्ष्मण के साथ ही विवाह करेगी। विवाह का यह विचार एक दिन उसने अपने अभिभावकों के सामने भी रख दिया।

राजा महीधर यह सुन चिन्तित हो उठे। वे इसलिए चिन्तित नहीं हुए कि लक्ष्मण के साथ सम्बन्ध नहीं करना है किन्तु इस लिए कि लक्ष्मण अभी वनवासी हैं। वनवास की लम्बी अवधि तक सयानी पुत्री को घर में कैसे रखा जाये? पुत्री की भावना के प्रतिकूल राजा ने उसका विवाह इन्द्रनगर के राजकुमार सुरेन्द्र-रूप के साथ करने का निश्चय किया। वनमाला ने अपना निर्णय पुनः सामने रखा। किन्तु राजा उपेक्षित रहा। वनमाला का मन विद्रोही बन गया। उसने आत्महत्या करने का निश्चय कर

लिया।

राम, लक्ष्मण और सीता भी चलते-चलते वहीं पहुंच गये। उद्यान के समीप विशाल-वट-वृक्ष के नीचे रात बिताने का निश्चय कर राम और सीता सो गये। लक्ष्मण जागृत थे।

इच्छा के विरुद्ध कदम उठाने से वनमाला का कोमल मन कठोर बन गया। इधर विवाह की तैयारी हो रही थी और उधर वह भागने की योजना बना रही थी। सब अपने शयन-कक्षों में थे। नींद ने सब पर अपना आवरण डाल दिया, किन्तु वनमाला निद्राहीन थी। चिन्ता और नींद, दोनों का कभी संगम नहीं होता। मौका देख धीरे से वह महल से बाहर निकल गयी। शरीर की दिव्य-प्रभा निशा में पथ को आलोकित कर रही थी। अपनी ही धुन में पागल बनी, वह उसी वट वृक्ष की ओर बढ़ी आ रही थी। लक्ष्मण ने देखा और सोचा—यह क्या कोई वनदेवी है? वन में क्रीड़ा करने आ रही है? वे वृक्ष की ओट से देखने लगे।

वनमाला वट-वृक्ष की शाखा पकड़ तीव्र वेग से ऊपर चढ़ गयी। लक्ष्मण कैसे रुकने वाले थे? वे भी वहीं पहुंच गये। वनमाला ने वस्त्र को वृक्ष की शाखा से बांध अपने गले में बांध लिया। उसने कहा—'दिशादेवियो! सिद्धो, बुद्धो और परमात्माओ! सुनो। मैं विवश हूं क्योंकि मुझे मेरे आराध्य लक्ष्मण पति-रूप में नहीं मिल रहे हैं। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में मुझे लक्ष्मण पति देना। मैं लक्ष्मण के सिवाय किसी को नहीं वरूंगी।' लक्ष्मण यह सुन स्तम्भित-से हो गये। जैसे ही यह कह वह नीचे लटकने को प्रस्तुत हुई कि लक्ष्मण ने उसकी भुजाएं पकड़ लीं और कहा—'भद्रे! क्या करती हो? जिस लक्ष्मण के लिए तुम मर रही हो, वह लक्ष्मण मैं ही हूं।' वनमाला भयभीत

होकर सकपकाने लगी। उसे लगा—कोई माया है! लक्ष्मण यहां कैसे? उसने कहा—'आप लक्ष्मण कैसे?' लक्ष्मण ने कहा—'विश्वास करो, मैं लक्ष्मण हूं। देखो नीचे राम और सीता सोये हैं।'

राम की नींद भी इस वार्तालाप से टूट गयी। राम ने कहा—'लक्ष्मण, किससे बातें कर रहे हो?' लक्ष्मण नीचे उतरे और उसे भी उतारा। राम ने कहा—'यह कौन?' लक्ष्मण ने कहा—'भाईजी! यह मेरे कारण प्राण दे रही थी। मैंने इसे बचाया है।' राम समग्र घटना सुन बड़े विस्मित हुए।

पौ फटने के साथ ही महलों में हलचल मच गयी। 'वनमाला गायब', 'वनमाला गायब' ध्वनि प्रतिध्वनित हो रही थी। राजा महीधर सैन्य को लेकर खोज के लिए निकल पड़े। नगर के बाहर बगीचे की ओर बढ़े कि वट-वृक्ष के नीचे वनमाला को राम, लक्ष्मण और सीता के पास बैठे देखा। वनमाला डर गयी। लक्ष्मण ने कहा—'डरने की कोई बात नहीं है। तुम निश्चिन्त रहो। मैं अकेला ही बहुत हूं।' 'मारो, मारो' की आवाज आ रही थी। सेना को निकट आते देख लक्ष्मण ने सामने आकर धनुष की प्रचण्ड ध्वनि से सैनिकों में खलबली मचा दी। राजा महीधर भी सामने टिक नहीं सके। उन्हें बांध राम के समीप खड़ा कर दिया। राम ने कहा—'लक्ष्मण! यह क्या किया? खोल बन्धन!' राजा ने कहा—'आप राम हैं?' राजा प्रसन्नता से नाच उठा। वह बोला—'धन्य भाग्य हैं कन्या के, जो कि आप सहज ही घर पहुंच गये हैं।' राजा ने महलों में आने की प्रार्थना की। राम, लक्ष्मण और सीता नगर में आये। सर्वत्र वनमाला के भाग्य की प्रशंसा हो रही थी। लोग कह रहे थे कि दृढ़ संकल्प में कितना बल है। वह फलित हुए बिना नहीं रह सकता।

राम-लक्ष्मण उस नगर से प्रस्थान करने लगे, तब वनमाला ने कहा—'मुझे भी साथ ले चलिये।' लक्ष्मण ने कहा—'यह समय साथ ले जाने का नहीं है। हठ मत करो।' वनमाला बोली—'वनवास की अवधि के बाद यदि मुझे आप याद नहीं करेंगे तो रात्रि-भोजन जितना पाप लगेगा।' लक्ष्मण ने स्वीकार किया और वहां से आगे बढ़ चले।

पांच बाण

क्षेमाजलपुर का शासक राजा शत्रुदमन था । उसकी पुत्री का नाम जितपद्मा था । जितपद्मा केवल नाम ही नहीं था, वस्तुतः उसने रूप और ऐश्वर्य में साक्षात् पद्मा-लक्ष्मी को भी पराजित कर दिया था। जब वह यौवन में प्रविष्ट हुई, तब एक दिन राजा ने सोचा कि इसका विवाह किसी वीर पुरुष के साथ करना चाहिए। इसलिए उसने यह युक्ति सोच निकाली कि जो उसके (राजा के) हाथ के बाण को ग्रहण कर सकेगा, उसे ही वह कन्या देगा।

दूसरे ही दिन नगर में यह घोषणा हो गई। किन्तु बाण-वहन करने की बात से सभी सशंक, भयभीत और विचलित हो जाते थे। वर्षों बीत गये। किसी व्यक्ति ने उस शर्त को स्वीकार नहीं किया। राजा भी अपनी प्रतिज्ञा से खिन्न हो गया। उसे लगा कि पृथ्वी निर्वीरा हो गई है।

राम, लक्ष्मण और सीता नगर के बाहर एक रमणीय उद्यान में विश्राम कर रहे थे। लक्ष्मण ने पूछा—'आपका आदेश हो तो नगर का निरीक्षण कर आऊं।' राम ने कहा—'जाओ!' शहर के प्रमुख बाजारों और सड़कों पर घूमते समय उनको यह घोषणा

सुनाई दी। वे पतह-वादक के निकट पहुंचे और पूछा—'क्या बात है?' उसने सब कुछ सुना दिया। लक्ष्मण ने उसे स्वीकृत कर लिया। वे राज्यसभा में आये। राजा शत्रुदमन ने पूछा—'आप कौन हैं?' लक्ष्मण ने कहा—'मैं अयोध्या के सम्राट भरत का दूत हूं।' राजा ने कहा—'क्या आप सही स्थिति से परिचित हैं?' लक्ष्मण ने निर्भयता के साथ कहा—'हां।' राजा ने पुनः कहा—'बाण वहन करना···।' लक्ष्मण ने बीच ही में कहा—'एक नहीं, पांच वहन करूंगा।'

जितपद्मा लक्ष्मण के दर्शन कर बड़ी प्रसन्न हुई। वह राजा के समीप आकर बोली—'आप रहने दें अपनी प्रतिज्ञा को। मैं इन्हें ही वरण करूंगी।' राजा परीक्षा लेने से विमुख नहीं हुआ। उसने एक ही साथ पांच बाण छोड़े। लक्ष्मण के लिए यह सब बाल-क्रीड़ा थी। उन्होंने दो बाणों को दोनों हाथों में, दो को कांख में और एक को दांतों के बीच थाम लिया। सभा हर्षित हो गई। जितपद्मा ने वरमाला लक्ष्मण के गले में डाल दी।

राजा ने कहा—'महलों में पधारिये।' लक्ष्मण ने मुसकराते हुए कहा, 'उद्यान में मेरे बन्धु राम बैठे हैं, उन्हें बुलाइए।' राजा शत्रुदमन ने कहा, 'आप लक्ष्मण हैं? फिर ऐसा क्यों कहा कि आप भरत के दूत हैं?' लक्ष्मण ने कहा—'वे सम्राट हैं और मैं सेवक हूं।' राजा शत्रुदमन ने राम का अभिवादन किया और कहा—'प्रभो! नगर में पधारिये।' राम और सीता राजा के साथ नगर में आये।

देशभूषण और कुलभूषण

वंशस्थलपुर पर्वत के मूल में बसा हुआ था। सुरप्रभ वहां का शासक था। पर्वत बड़ा विशाल था। राम घूमते-घूमते इस नगर में आ पहुंचे। उन्होंने नगर का जन-जीवन अस्त-व्यस्त देखा। राजा सुरप्रभ ने श्रीराम का स्वागत किया। किन्तु राजा की आकृति तेजस्वी नहीं थी। ऐसा लग रहा था जैसे नगर कोई दैवी विपत्ति में से गुजर रहा हो। राम ने पूछा—चहल-पहल, मुसकान क्यों नहीं है?' राजा ने बड़े दुःखी हृदय से निवेदन किया—'प्रभो! क्या बताऊं? नागरिकों की प्रसन्नता में मेरी प्रसन्नता है। हम लोग इस समय बड़े अतर्कित संकट में हैं। इस सामने के पर्वत पर मध्यरात्रि को भयानक गर्जना होती है, जो भूचाल का-सा दृश्य उपस्थित कर देती है। पर्वतीय चट्टानें प्रकम्पित हो जाती हैं। पृथ्वी स्थिर नहीं रह पाती। लोग आतंकित होकर शहर से दूर चले जाते हैं। दो-दो, चार-चार कोस तक यह शोर सुनाई देता है। सुबह सब शान्त हो जाता है, मानो रात को कुछ हुआ ही नहीं हो। कई दिनों से यह क्रम चल रहा है। लोग प्राणों को मुट्ठी में लेकर रात को चले जाते हैं और सुबह पुनः लौट आते हैं। चारों ओर देखते हैं पर कुछ भी दिखाई नहीं देता। केवल दो साधु गुफा में ध्यान-लीन देखे जाते हैं।

क्या है, क्यों है ? इसका रहस्य अब तक गुप्त ही है।'

राम ने सोचा—यह दैवी-प्रकोप है। ऐसा लगता है, किसी वैर के कारण साधुओं को यह पीड़ा दी जा रही है। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—'लक्ष्मण ! चलो, देखें क्या है ?' भय तो भीत व्यक्ति को अपना शिकार बनाता है। अभय व्यक्तियों के तो वह सन्निकट भी नहीं पहुंच पाता। राम, लक्ष्मण और सीता रत्नत्रय की तरह अभीत वहां पहुंच गये, जहां मुनि ध्यानस्थ थे।

मुनि प्रशान्त मुद्रा में थे। निर्विकल्प समाधि की उच्च भूमिका में विहरण कर रहे थे। शत्रु और मित्र दोनों जिनके लिए समान थे। चेहरे से अपूर्व सुधा-धारा प्रवाहित हो रही थी। ऋषि-चरणों में सबके मस्तक प्रणत हो गये। दैविक-बांसुरी हाथ में ले राम उसे बजाने में व्यस्त हो गये। सीता नृत्यलीन हो गई और लक्ष्मण हाथ में कोदण्ड सज्जित कर सावधान खड़े हो गये।

निशा का राज्य शनैः शनैः विस्तृत होने लगा। अन्धकार सूचि-भेद्य था। हाथ को हाथ भी सुझाई नहीं पड़ रहा था। टिम-टिमाते तारकों के क्षीण प्रकाश में धुंधली-सी छाया मात्र दृष्टि-गत होती थी। रात्रि का दूसरा पहर जैसे ही शान्त होने को आया कि सहसा दिशाएं गुंजित होने लगीं। चट्टानें खड़खड़ाहट करने लगीं। पशु-पक्षियों के चीत्कारों ने दिशा का मौन भंग कर दिया। पर्वत भी अडोल नहीं रहा। राम ने कहा—'लक्ष्मण ! सावधान···' देखते-देखते एक भीमकाय भयावह आकृति क्रुद्ध परमाणु बम की तरह विनाशक, देव प्रतिच्छाया की भांति, गुफा में उतरने लगी। सामने शर साधे शौर्य की प्रतिमूर्ति की तरह, तेजस्वी ललाट, लक्ष्मण और राम को देख वह भौंचक्का रह गया। उसके पैर आगे नहीं बढ़े। जिस वेग-वाहिनी गति से वह आ रहा था, उससे भी अधिक द्रुत गति से प्राण लेकर लौट

चला।

इधर उपद्रव शान्त हुआ और उधर मुनियुगल अज्ञान-आवरण क्षीण कर सर्वज्ञ-सर्वद्रष्टा बने, मानो वे राम-लक्ष्मण के सहयोग की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। मोह की घनघोर घटा चीरकर ज्ञान-सूर्य अप्रतिहत तेज के साथ प्रकाश में आया। अन्तर्ज्योति जागृत हो गयी। राम, लक्ष्मण और सीता ने वन्दना और अर्चना की। राम का मन इस घटना की जानकारी के लिए आतुर हो गया। वे पूछना ही चाहते थे कि मुनि कुलभूषण ने कहा, "आप इस घटना से ज्ञात होना चाहते हैं?" राम ने कहा—"हां।" मुनि ने कहा—"घटना बहुत लम्बी है। मैं संक्षेप में इसे सुना रहा हूं।"

"हम दोनों भाई हैं। मेरा नाम कुलभूषण और इसका देश-भूषण है। हम दोनों का सह-सम्बन्ध केवल वर्तमानिक ही नहीं है। हम इससे पूर्व भी भाई के रूप में साथ रहे थे। यह देवता जो कष्ट देने के लिए आया था, उसका विरोध भी हमारे प्रति आज का नहीं है, पूर्वजन्मों से चला आ रहा है। प्राय: मनुष्य केवल वर्तमान-दर्शक होते हैं, परिणामदर्शक कम। 'आयंकदसी न करेइ पांव'—आतंक-परिणाम-दर्शक मनुष्य पाप से दूर रहते हैं। क्षणिक और स्वल्प सुखों में जीवन की आहुति वे ही लोग देते हैं, जो परिणाम से अनभिज्ञ होते हैं।"

अनेक जन्मों के पूर्व की घटना है। पद्मनि नाम का नगर था। राजा विजयपर्वत वहां के शासक थे। उनके यहां अमृतसुर नाम का व्यक्ति चर-कार्य में नियुक्त था। वे हमारे पिता थे। हम उदित और मुदित दो भाई थे। पिताजी का एक मित्र था, जिसका नाम वसुभूति था। पिताजी किसी राज्य-कार्य के लिए बाहर गए। उनके साथ उनका मित्र वसुभूति भी गया। वसुभूति

ऊपर से सुन्दर और भीतर से मलिन था। उसका हमारी मां उपभोगा के साथ अनुचित सम्बन्ध था। पिताजी इसमें विघ्न थे। मां ने वसुभूति से कहा—इन्हें समाप्त करने पर हम आराम से रह सकते हैं।

वासना मानवीय मर्यादाओं के तट को तोड़ गिराती है। वहां संबंध स्वस्थ नहीं होते। उसने मौका देख मार्ग में पिताजी का धड़ अलग कर दिया। घर आया और मां से कहा—"अब हम सुख से रहेंगे। हमारे प्रेम में कोई कांटा नहीं है।" किन्तु मां को हम भी उस प्रेम के कांटे लग रहे थे। वह चाहती थी कि हमारा काम भी समाप्त कर दिया जाये। हम थे तो बच्चे। किसी प्रकार हमें इस षड्यंत्र का बोध हो गया। भोगान्ध क्या नहीं करता? कामना के चक्र-व्यूह में घुसने के बाद विवेक-बुद्धि पर ताला लग जाता है। हम सावधान थे। वह वसुभूति हमारा काम अवशेष करे, इससे पूर्व ही हमने उसका नामशेष कर दिया।

वहां से मरकर वह चांडाल योनि में उत्पन्न हुआ। यतिवर्धन नाम के मुनि एक दिन उस नगर में पधारे। राजा विजयपर्वत भी सत्संगति में गये। नगर के अनेक नागरिकों ने धर्मोपदेश सुना। हम दोनों भाई भी उस धर्मसभा में थे। अध्यात्मोपदेश से विरक्ति का प्रवाह फूट पड़ा। अनेक लोगों को जीवन का बोध मिला। राजा दीक्षा के लिए सन्नद्ध हो गये। हमारा मन विरक्त था। अनुकूल हवा ने उस ज्योति को प्रवर्धित कर दिया। हम भी दीक्षित हो गये।

एक दिन हम मार्ग में जा रहे थे। पथ में उसी चाण्डाल म्लेच्छ से भेंट हो गई। हमें देखते ही पूर्व वैर जागृत हो गया। वह मारने के लिए दौड़ा। उस समय म्लेच्छपति ने उसे हटा

दिया। हम बच गये। वैर आगे से आगे चलता रहता है। मनुष्य की सुख-सुविधा का यह बड़ा शत्रु है। हमने मुनि जीवन में अनशन कर शरीर का विसर्जन किया। वहां से हम स्वर्ग-लोक में उत्पन्न हुए।

वसुभूति की आत्मा ने इस संसार में विविध योनियों का स्पर्श करते हुए शुभ संयोग से मनुष्य के रूप से जीवन ग्रहण किया। बड़े होने पर तापसी वृत्ति अपनायी। वहां से शरीर छोड़ धूमकेतु नाम का देवता हुआ।

हम दोनों भाई भी स्वर्गीय आयुष्य को पूर्ण कर रीष्टापुर नगर में प्रियंवद राजा के पुत्र बने। हमारे एक भाई और था, जिसका नाम था अनुद्धत। वह वसुभूति का ही जीव था। वह बड़ा ईर्ष्यालु, अविनीत और उद्दण्ड था। राजा ने अनेक प्रकार से उसे समझाया, किन्तु उस पर कोई असर नहीं हुआ। राजा प्रियंवद ने ज्येष्ठ पुत्र रत्नरथ को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और अनुद्धत तथा दूसरे भाई को युवराज नियुक्त कर दीक्षा स्वीकार कर ली। गुरुतर उत्तरदायित्व को पाकर भी अनुद्धत सुधर नहीं सका। वह राजा रत्नरथ की रानी के प्रति दुश्चेष्ट बन गया। राजा ने उसे निर्वासित कर दिया। उसकी उद्दण्डता को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया। वह दूसरों की भूमि हथियाने लगा। लोगों को विविध यातनाएं पहुंचाने लगा। वह अकेला नहीं रहा। एक बहुत बड़े गिरोह का नेतृत्व उसने संभाल लिया। रत्नरथ राजा ने उस पर चढ़ाई की। उसे परास्त कर बांध लिया। उसे पुनः छोड़ दिया। अपने दुष्कृत्य पर उसे लज्जा हुई। उसने तापसी-जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। जन्म-मरण की दीर्घकालीन परम्परा का वह विच्छेद नहीं कर सका। कभी कहीं और कभी कहीं जन्म-मरण करते-करते मनुष्य बना।

पुनः तपश्चर्या को अंगीकार कर अग्निप्रभ नाम का देवता हुआ। चित्ररथ और रत्नरथ हम दोनों ने भी वहां दीक्षा लेकर साधना की और वहां से अच्युतकल्प देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहां से आयुष्य पूर्ण कर सिद्धार्थ नगर में क्षेमकर राजा की रानी के गर्भ से कुलभूषण और देशभूषण नाम से हम दोनों भाई उत्पन्न हुए।

हम साधु बन अपनी साधना में लीन हो गये। जीवन वरदान और अभिशाप दोनों है। जब उसे तुच्छ और क्षणिक भोगों में लुटा दिया जाता है तो वह अभिशाप बन जाता है। और जब उसे आत्मा के साथ शाश्वत शान्ति में योजित कर दिया जाता है तब वह वरदान बन जाता है। हम प्रेय से श्रेय की ओर बढ़ रहे थे और आज भी बढ़ रहे हैं। श्रेय की पूर्णता प्राप्त नहीं होती तब तक यह क्रम सतत गतिशील रहता है। अनन्त-वीर्य केवल-ज्ञानी की धर्म संसद् में एक शिष्य ने प्रश्न किया—"भगवन्! आपके बाद केवलज्ञानी कौन होंगे?" सर्वज्ञ भगवान ने उत्तर दिया—"कुलभूषण और देशभूषण।" अग्निप्रभ देव भी उस समय वहीं बैठा था। उसने इस वचन को मिथ्या करने के लिए और अपना पूर्व प्रतिशोध लेने के लिए इस प्रकार का दुःखमूलक और पापपूर्ण कार्यक्रम बनाया किन्तु आपकी शक्ति के सामने वह हतप्रभ हो गया। दुष्टों का शमन दण्ड-भय है। हम साधक हैं। हमारे लिए राग और द्वेष दोनों वर्जनीय हैं। राज्य-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था इनके आधार पर चल नहीं सकती। आपके भुजबल के सामने वह भी तुच्छ था, इसलिए आपको देखते ही निर्वीर्य-सा भाग खड़ा हुआ। हमारी साधना सिद्ध हो गई। उच्च ध्येय को लेकर जन्म-जन्मान्तरों से चलने वाली साधना आज सम्पन्न हुई। अनुकूल पवन जैसे वर्षा का निमित्त बनती है वैसे

ही आपका यह सहयोग बना।

राम की आत्मा बड़ी प्रसन्न हुई। उन्होंने कहा—'प्रभो! आप धन्य हैं। इस यौवन में भी आपने अपूर्व तेज को प्रकट किया है। संसार वासना का घर है। भोगों की दासता में विश्व परतन्त्र है। आप स्वाधीन हैं। किन्तु मेरे मन में जिज्ञासा है कि इस यौवन में आप विरक्त कैसे हुए? भौतिक साधनों का प्राचुर्य होने पर भी आपने उन्हें कैसे पीठ दिखा दी?'

कुलभूषण मुनि ने समाधान के स्वर में कहा—"राजन्! यह घटना भी कम आकर्षक नहीं है। मानसिक आवेग मनुष्य को कहां पहुंचा देते हैं, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। इन्द्रियों की अतृप्त दशा में मनुष्य क्या सोच लेता है? देखिये, इससे आपको एक हल्की-सी झांकी मिल जायेगी। घटना यह है कि हम कुछ बड़े हुए तब आचार्य सागरघोष के हाथों में हमें विद्याध्ययन के लिए सौंपा गया। हम गुरुकुलवास में चले गये। आचार्य ने हमें बहुमुखी प्रतिभा का धनी बनाया। हमारे आवृत ज्ञान को अनावृत किया। विविध कलाओं से पारंगत किया। राज्योचित और व्यावहारिक समस्त प्रशिक्षण देकर आचार्य ने हमें विदा दी। हमारे पिताश्री और समग्र राज्य इस बात से बहुत प्रसन्न हुआ। हमारे लिए स्वागत का कार्यक्रम किया गया। हम महलों में बहुत वर्षों के बाद लौट रहे थे। उस समय हम बच्चे थे और आज युवक। सबकी आंखें हमारी ओर लगी हुई थीं। जनता के असीम स्नेह, प्यार और आशीर्वाद को लेते हुए हम राज प्रासाद की ओर बढ़े जा रहे थे। राज-प्रासाद के जैसे ही निकट आये कि हमारी दृष्टि ऊपर उठी। ऊपर गवाक्ष में बैठी एक सुन्दर कन्या ने हमारे मन को एक क्षण में अपनी ओर खींच लिया। चित्त अनुरक्त हो गया। मन वहीं अटक गया।

हम राज-सभा में स्वागत-कार्यक्रम सम्पन्न कर माता को प्रणति करने के लिए महलों में आये। मां आंचल बिछाए खड़ी अपलक नयनों से निहार रही थी। मां के दर्शन के साथ, उस तरुण कन्या के दर्शन भी वहीं हो गये। मां ने आशीर्वाद दिया। मैंने मां से उस कन्या की ओर संकेत करते हुए पूछा—यह···? मां ने कहा—"यह तुम्हारी बहन है।" यह शब्द सुनते ही हमारे काटो तो खून नहीं, हम स्तम्भित-से हो गये। स्वयं को धिक्कारने लगे। आत्म-ग्लानि की अग्नि में मन तपने लगा। वह नये सांचे में ढल गया। हमने सोचा—यौवन कितना मादक है? आज जो बहन पर आसक्त हो सकता है, कल वह और अनर्थ घटित कर सकता है। हमने वहीं संकल्प कर लिया। ज्ञान का सार यह नहीं है कि वासना की भट्टी में अपने को झोंक दिया जाये। ज्ञान का सार है—चरित्र-संपन्न होना। जहां सदाचार है, वहीं जीवन की सार्थकता है। माता की अनुज्ञा लेकर हम उन्हीं पैरों लौट आये, श्रामण्य स्वीकार किया और मोह-विजय की साधना में संलग्न हो गये। तब से अब तक उसी में जुटे रहे। आज साध्य का दर्शन हुआ है।

उसी समय महालोचन नाम का गरुड़पति देव भी वहां उपस्थित हो गया। उसने इस कार्य के प्रति राम की बड़ी कृतज्ञता व्यक्त की और बोला—"मुझे भी कभी याद कीजिए ताकि इस उपकृति का कुछ बदला चुका सकूं। यह देव कुलभूषण और देशभूषण के पिता थे—वंशस्थल नृप। नागरिक जन भी वहां पहुंच गये। राम के चरणों में सब नतशीश हो गये। राजा भी सेवा-कार्य में प्रस्तुत हो गया। पर्वत को विविध भांति सज्जित किया गया। वही पर्वत आज रामगिरि के रूप में विश्रुत है।

राजा दण्डक और दण्डकारण्य

दण्डकारण्य के नाम से कौन परिचित नहीं है! किन्तु उसके पीछे जो इतिहास छिपा है, उससे बहुत कम लोग परिचित हैं। राम का वनवास-गमन और दण्डकारण्य में निवास इस घटना पर प्रकाश डालता है।

स्व-निर्मित सुरक्षित स्थान में सभी बैठे थे। एक दीर्घ तपस्वी और महान् साधक भिक्षा के लिए वहां आ पहुंचे। राम, लक्ष्मण और सीता ने श्रमण का स्वागत किया और बोले—'धन्य है हमारा भाग्य, जो इस बीहड़ अरण्य में भी आपके दर्शन हुए।' संस्कारित फल पड़े थे, उनके लिए मुनि से अभ्यर्थना की। मुनि ने उनके हाथों से आहार ग्रहण किया। ठीक उसी समय आकाश से पुष्प और सुगन्धित जल की वर्षा हुई। वनस्थली उस भीनी मधुर सुगन्ध से महक उठी। वातावरण में एक नव्य स्पन्दन हो गया। एक रुग्ण गृध्र पक्षी गन्ध से आकृष्ट होकर गिरता-उठता वहां आ पहुंचा। जैसे ही उसकी दृष्टि मुनि-दर्शन से पवित्र हुई कि वह मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ा। सीता ने तत्क्षण उसे हाथों में उठा मुनि के चरणों में लिटा दिया। मुनि घोर तपस्वी थे, घोर संयमी थे। तप और संयम की उत्कट साधना से उनके शरीर का स्पर्श औरों के लिए पवित्र बन गया था। जैसे ही चरणों का स्पर्श

हुआ कि पक्षी की काया-पलट हो गयी। वह रोग-मुक्त हो गया और अभिनव सौन्दर्य व वर्ण-संपन्न हो गया। सभी बड़े आश्चर्यान्वित हुए। इस घटना से सभी का मन जिज्ञासित हो उठा। मुनि ने राम से प्रश्न किया—भंते! यह कैसे हुआ? कौन है यह?

मुनि ने कहा—'जहां हम अवस्थित हैं इनका नाम दण्ड-कारण्य है, किन्तु एक दिन यह 'कुम्भकारकट' नाम का नगर था। यहां 'दण्डक' नाम का राजा राज्य करता था। दण्डक राजा की रानी पुरन्दरयशा थी। वह श्रावस्ती के राजा जितशत्रु की पुत्री थी। एक दिन राजा दण्डक ने पालक नाम के एक ब्राह्मण दूत को श्रावस्ती भेजा। पालक नास्तिक था। वह जितशत्रु की राज्य-सीमा में पहुंचा। कुशल संवाद पूछने के अनन्तर वह भी वहीं बैठ गया। सभा में धर्म विषय पर चर्चा चल रही थी। पालक ने अपने तर्कों द्वारा धर्म का खंडन प्रारम्भ किया। इसी समय राजा जितशत्रु का धर्मज्ञ और नीतिज्ञ राजकुमार स्कन्धक खड़ा हुआ। उसने अपने युक्ति-युक्त और तीखे तर्कों द्वारा पालक की युक्तियों को काट दिया। पालक निस्तेज हो गया। उसका बुद्धि-कौशल फीका पड़ गया। पराजय की ठेस से उसका अन्तःकरण संतृप्त हो उठा। प्रतिशोध की अग्नि प्रज्वलित हो गयी। इतने लोगों के बीच अपमान की कड़वी घूंट पीनी पड़ी, यह दुःख उसे सताने लगा। कार्य सम्पन्न कर वह पुनः अपने राष्ट्र में लौट आया। स्कन्धक कुमार धर्मवित् था। समय के प्रवाह के साथ उसका मन संसार से विमुक्त हो गया। उसने बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ के सन्निकट पांच सौ व्यक्तियों के साथ श्रामण्य स्वीकार कर लिया। श्रमण बन आगम महोदधि का अवगाहन किया। वे उद्भट विद्वान व महान् साधक के रूप में प्रख्यात हुए। एक दिन

उनका मन कुम्भकारकट जाने को हुआ। अनुज्ञा लेने के लिए वे भगवान् के चरणों में उपस्थित हुए और बोले—'भन्ते ! मैं चाहता हूं कुम्भकारकट नगर जाकर वहां के जन-जीवन को प्रतिबोधित करूं।' सर्ववेत्ता मुनि सुव्रतनाथ ने कहा—'तुम्हें वहां मारणान्तिक कष्ट होगा।' स्कन्धक ने प्रश्न किया—'भन्ते ! मैं संयम का आराधक बनूंगा या विराधक ?' भगवान् ने उत्तर दिया—'एक तुम्हारे सिवाय सभी आराधक होंगे।' स्कन्धक ने सोचा—'चलो, मेरे कारण सबका कार्य सिद्ध होता है।' पांच सौ श्रमणों के साथ उन्होंने कुम्भकारकट उद्यान की ओर प्रस्थान कर दिया। पथ की दूरी तय कर एक दिन कुम्भकारकट उद्यान में विराजमान हो गये।

पालक की बांछें खिल उठीं। इसलिए नहीं कि सत्संग का सुअवसर प्राप्त हुआ, किन्तु इसलिए कि उस पराजय के प्रतिशोध का यह सुन्दर सुअवसर उसे मिल गया। विद्वेष के अंकुर की जड़ कितनी सुदृढ़ होती है। पानी, मिट्टी और अनुकूल वायु का स्पर्श पाकर वह यथाशीघ्र अंकुरित हो जाती है। उसने आगमन की सूचना से पूर्व ही पांच सौ सुभटों के शस्त्र बगीचे के चारों और जमीन में गड़वा दिये।

नगर का वातावरण साधु-समागम के संवाद के पुलकित हो उठा। राजा और रानी का मन-मयूर भी नृत्य करने लगा। मुनि-दर्शनों के लिए लोग सावन के बादलों की तरह उमड़ पड़े। सब नागरिकों की एक ओर ही गति थी। सबके चेहरों पर अपूर्व उल्लास झलक रहा था। राजा दण्डक और रानी पुरन्दरयशा ने भी अपनी तैयारी की। वे भी सदलबल वहां आ पहुंचे। दर्शन और प्रवचन सुन सभी कृतकृत्य हुए। पालक की आत्मा इस दृश्य से कराह रही थी, मानो सौ-सौ बिच्छू उसे डंक मार रहे हों।

सूर्य के प्रकाश से सभी को स्फुरण प्राप्त होता है, किन्तु उलूक को नहीं।

वह राजा के पास पहुंचा और बोला—'आज आप बहुत प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं।' राजा ने कहा—'हां, क्या तुम्हें नहीं पता कि आज स्कन्धक आचार्य पांच सौ शिष्यों के साथ नगर में आये हैं। वे श्रमण भी हैं और हमारे साले भी हैं। यह सोने में सुगन्ध जैसा है।' पालक ने बात काटते हुए कहा—'इतने प्रसन्न मत बनिये। 'घर में साला और भींत में आला' खतरनाक होता है, यह आपने सुना है। ये साले नहीं, आपका राज्य लेने के लिए सशस्त्र फौज लेकर आये हैं। सशस्त्र क्रान्ति होने वाली है और आपका शासन उखड़ने वाला है। यहां तानाशाही स्कन्धक का शासन होने वाला है।' राजा को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने पूछा—'यह कैसे हो सकता है?' उसने सचाई को प्रमाणित करने के लिए राजा को वहां ले जाकर पांच सौ शस्त्र गड़े हुए दिखा दिये।

राजा के होश गुम हो गये। बुद्धि जड़ हो गयी। विवेक विलुप्त हो गया। राजा ने उससे पूछा—'इसका क्या उपाय है?' वह बोला—'आप मुझे यह भार सौंप दीजिए। मैं सबका काम अभी समाप्त कर दूंगा।' राजा ने न मंत्रिमण्डल की बैठक बुलाई और न कुछ विचार किया। उसके हाथों में सब कुछ सौंप दिया। राजा महलों में बैठ गया। किसी को कोई खबर नहीं। बिल्ली का चाहा छींका टूट गया। वह सीधा उद्यान में पहुंचा और एक बहुत बड़ा तेल पेरने का यन्त्र (घानी) मंगाया। उसे आरोपित कर स्कन्धक के निकट पहुंचा और बोला—'अब तैयार हो जाओ। मुझे पराजित और तिरस्कृत करने का यह फल है। आज सबको इसमें पेरूंगा।'

आचार्य ने देखा—'भगवान् ने जो कुछ कहा था अब सत्य हो रहा है। शिष्यों से बड़े अविचलित मन बोले—'शिष्यो यह वीरता की घड़ी है। जीवन-संग्राम में योद्धा कभी पराङ्मुख नहीं होते। विजयश्री वरण करने के बाद ही वे शान्त होते हैं। जीवन और मृत्यु अभिन्न साथी हैं। हंसते-हंसते प्रशान्तचित्त, अव्याकुल और अव्यथित मन इसे स्वीकार करना है। देह की चिन्ता नहीं करना, चिन्ता शिव-आत्मा की करना है। राग-द्वेष से व्यक्ति की मृत्यु होती है और समता से वह अमर। अमर आत्मा को मर्त्य-शरीर से अमर्त्य में स्थापित करना है।' शिष्य सन्नद्ध हो गये। चेहरे प्रशान्त रस के मूर्तरूप बन रहे थे। भय और कायरता ने मानो सदा-सदा के लिए विदा ले ली थी। पालक एक-एक को यन्त्र के निकट लाता गया और उसमें तिलों की तरह पेरता चला गया। धरती पर खून का प्रवाह चल पड़ा। मांस-भक्षी पक्षियों के झुंड-के-झुंड आस-पास मंडराने लगे। वे बिना निमन्त्रण स्वतः सुलभ भोजन के लिए वहां आ पहुंचे। लोग इस महाविनाशकारी कृत्य का संवाद सुनते ही रो पड़े। सभी ने राज-प्रासाद के बाहर प्रदर्शन किया और आवेदन समर्पित किया, किन्तु राजा की क्रूर आज्ञा के सामने उनकी पुकार अरण्य-रोदन ही सिद्ध हुई। उस पालक का हृदय इस भयावह दृश्य से प्रकम्पित नहीं हुआ। निष्ठुर आत्मा ने एक-एक कर चार सौ अट्ठानबे श्रमणों को मौत के घाट उतार दिया।

आचार्य और उनका छोटा बाल-साधु केवल दो ही बचे थे। बाल-मुनि को जैसे ही यन्त्र के समीप लाया गया, आचार्य का हृदय करुणार्द्र हो गया। उन्होंने कहा—'पालक ! मेरी आंखों के सामने इस शिशु-साधु को मत पेरो, पहले मुझे पेर दो।' किन्तु वह नहीं माना। उसने बाल-श्रमण को यन्त्र में डाल पेर दिया

और कहा—'आइए, अब आपका क्रम है।' स्कन्धक रोषारुण हो रहे थे।

पांच सौ श्रमणों का नर-संहारक पालक बड़ा प्रसन्न हो रहा था। खून के प्रवाह को देख उसका मन नाच रहा था। समग्र वातावरण रक्त-रंजित हो उठा। श्मशान के दृश्य से भी अति भयानक दृश्य वहां था। एक चील खून से सने रजोहरण को मांस की बोटी समझ पंजों में पकड़ ले चली। जैसे ही वह राज-महलों के ऊपर से उड़ी कि अति भार के कारण वह मांस की बोटी नीचे गिर पड़ी। जहां रानी बैठी थी, ठीक उसी के सामने आकर वह गिरी। इसके देखते ही रानी की आंखों से आंसुओं की धारा फूट पड़ी। वह करुण स्वर में विलाप करने लगी—मेरे भाई की हत्या करा दी गयी।

स्कन्धक की आत्मा जैसे ही यहां से प्रस्थान कर स्वर्ग में 'अग्निकुमार' देवता के रूप में उत्पन्न हुई कि वह दृश्य तत्क्षण उनकी आंखों के सम्मुख आ खड़ा हुआ। वे सीधे श्रमण-संहार-स्थली में आ उपस्थित हुए। पालक अभी वहीं खड़ा ही था। वे बोले—'पालक ! सावधान हो जा। मैं आ गया हूं। स्वर्ग और नर्क है या नहीं, इसका समाधान अभी हो जायेगा।'

यह कहते ही प्रलयंकारी दृष्टि की तरह आकाश से आग के शोले बरसने लगे। अग्नि की लपटें उठने लगीं। संपूर्ण नगर अग्निकांड की चपेट में आ चुका था। लोगों में भगदड़ मच गयी। जाएं तो जाएं कहां ? बाल, वृद्ध और महिलाओं की चीत्कारों से बाहर का दृश्य बड़ा विद्रावक बन गया। कुछ ही क्षणों में सारा नगर अग्नि की लपटों में आत्मसात् हो गया। महल, मकान एक-एक कर सब ढह पड़े, मानो वहां कुछ था ही नहीं। एक व्यक्ति की दुष्टता का दंड बेचारे लाखों-लाखों निर्दोष व्यक्तियों को

भोगना पड़ा।

वार्ता का उपसंहार करते हुए मुनि ने कहा—यही राजा दण्डक का जीव है। बिना विचार किये का यह सब फल है। आज के पवित्र वातावरण ने उसके जीवन को रूपान्तरित कर दिया। अब वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। उसका नाम जटायु पक्षी हो गया। राम ने उसके साथ अपनी मैत्री स्थापित कर, उसे अपने साथ रख लिया।

सीता को चुराकर जब रावण ले जाने लगा, तब जटायु ने अपनी कृतज्ञता का परिचय दिया, बार-बार रावण के बीच में आ व्यवधान बनने लगा। रावण ने क्रुद्ध होकर तलवार से उसकी पांखें काट दीं, बेचारा तड़फते-तड़फते नीचे आ गिरा। राम वापस लौटे, सीता को नहीं देखा और नहीं देखा उस जटायु पक्षी को, तब इधर-उधर खोज में घूमते-घूमते जटायु को तड़फते देखा। राम सारी स्थिति को भांप गए। अभी जटायु के प्राण निकले नहीं थे। राम ने उसे सांत्वना दी, सद्बोध दिया, जिससे जटायु को आत्म-संतोष मिला।' 'अंतमति सो गति'—सद्भावना व सद्विचारों के साथ उसने अपनी अंतिम सांस ली। राम ने उसका संस्कार-कर्म किया।

राम के सान्निध्य से मनुष्यों की ही चेतना का विकास नहीं हुआ, जटायु जैसे पक्षियों का मार्ग भी प्रशस्त हो गया।

□ □

Library IIAS, Shimla
H 294.88 Sh 91 J
00086873